हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-सीरीज

सूर-साहित्य

लेखक

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी डी० लिट्

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,

हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर लिमिटेड, बम्बई

भूमिका

'सूर-साहित्य' पुस्तक पढ़कर मैं बड़ा आनंदित हुआ था पर जब सुना कि पुस्तककी भूमिका मुझे ही लिखनी पड़ेगी तो वही आनन्द उद्वेगके रूपमें बदल गया।

उद्वेगका कारण बताऊँ। श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी मेरे छोटे भाईके समान हैं। नित्य ही उनके साथ नाना विषयोंपर मेरी बातचीत और आलाप-आलोचना होती रहती है। इसीलिए वे एक तरहसे मेरे नितान्त 'अपने' हैं। उनके किसी मतामतकी आलोचना करना मानो अपने ही बारेमें अपने आप लिखना है। इसीलिए यह काम मेरे लिए जरा मुश्किल है।

एक और गुरुतर कारणसे भी इस ग्रन्थकी भूमिका लिखनेमें हिचक होती है, उसे भी समझा देना जरूरी है।

श्री हजारीप्रसादजी भक्ति-तत्त्व, प्रेम-तत्त्व, राधा-कृष्ण मतवाद आदिके सम्बन्धमें जो कुछ भी उल्लेखयोग्य, जहाँ कहींसे पा सके हैं, उसे इस ग्रन्थमें संग्रह किया है और उसपर भली भाँति विचार किया है, विचारका फलाफल उन्होंने स्पष्ट भावमें ही लिखा है। इसका फल यह हुआ कि पुस्तक आरामके साथ, निश्चिन्त और अलस भावसे पढ़ने लायक नहीं हुई है। पद-पदपर चिन्ता और विचार करनेकी जरूरत है।

हमारे इस ' आराम ' प्रिय आलसी देशमें चिन्ता और विचार करनेके लिए बहुत कम आदमी राजी होते हैं। इसीलिए हम लोग युगयुगान्तरसे चिन्ताका भार शास्त्र और ऋषि-मुनियोंपर, विचारका भार गुरुपर और आचारका भार लोक-परम्परापर लादते आये हैं। हमारी सनातन रीति यही रही है जिसे बंगालमें कहा करते हैं—कर्ता (मालिक) की इच्छा ही कर्म है।

इसके बाद जब पश्चिमसे ज्ञान विज्ञानका यह नया युग आया तब भी हमने अपनी सनातन रीति बदली नहीं अर्थात् जड़ताका आलस्य छोड़ा नहीं। बदला हमने अपने ' कर्ता ' को। भारतीय शास्त्र, गुरु और लोकाचारके सिंहासनपर योरपके Authority, मत और सिद्धान्तको बिठा दिया। अर्थात् एक राजा गया, दूसरा आया, किन्तु शासन, शोषण, पीड़न और पालनकी विधि वही चलती रही।

बीच-बीचमें प्राय देखा जाता है कि एकान्त स्त्री-परायण व्यक्ति स्त्रीके मरते ही और दूसरी स्त्रीका पाणि-ग्रहण करके उसीकी तावेदारीमें लग जाता है। जो इसका मर्म नहीं समझते वे विस्मित होते हैं। उन्हें समझना चाहिए कि स्त्रैणका स्वभाव ही ऐसा होता है। पत्नीका अर्थ है ' स्वामिनी '। इसीलिए जब एक स्वामिनी चली गई तो दूसरीको उसी शून्य सिंहासनपर बैठना पड़ता है। इसीलिए इस युगमें हमने शास्त्र, गुरु और लोकाचारकी दुहाई देना छोड़कर उसके स्थानपर अगर योरोपियन Authority की दुहाई देना शुरू किया है तो इसमें आश्चर्यकी क्या बात है ?

लेकिन आश्चर्य सचमुच तब होता है जब देखते हैं कि *पुराने स्वामी तो हैं ही, नये स्वामीको भी हमने उन्हींके बगलमें बैठा लिया है*। मानते-मानते, माना कि हमारा मन " मानना "-परायण हो गया है, जहाँ एक जातीय प्रभुके अधीन थे वहाँ अगर एक और प्रभुकी अधीनता स्वीकार कर ही ली तो कोई बात नहीं, उससे कुछ हमारा आता जाता नहीं। पर दोनों जातिके प्रभुओंको एक ही सिंहासनपर एकके बगलमें दूसरेको, बैठनेके लिए कैसे हमने राजी कर लिया, यही आश्चर्यकी बात है।

यह सर्ववादि-सम्मत है कि दो राजाका राज्य सुखकर नहीं होता। दो स्त्रीके साथ गृहस्थी चलाना भी परम दुर्गति है, यह भी सभी जानते हैं। किन्तु सनातन और नूतन दो प्रभुओंकी ताबेदारी हम एक ही साथ कैसे चला रहे हैं? प्राचीन तम सनातनी विधिके साथ नूतनतम वैज्ञानिकी अधुनातनी रीतिको हमने 'बेमालूम' जोड़ दिया है। वृद्धके साथ बालिकाके विवाहमें जैसा गोलमाल होता है वैसा इस क्षेत्रमें बिल्कुल नहीं हुआ। इसमें जो एक बेडौल विसदृश व्यापार है वह किसीको दिखा ही नहीं।

जो हो, बात यह है कि हमने सुदीर्घ काल तक समझने, सोचने और विचार करनेका भार पुराने प्रभुओंको दे रखा था। और अब रिवाज हुआ है कि यह भार योरोपियन प्रभुओं (Authority) को देना चाहिए। किसी किसी सज्जनने अनुपम कौशल और अचिन्तनीय चातुरीके बलपर इन दोनोंका समन्वय करके भावना, चिन्ता और विचारके भारको पुरातन और नूतन दोनों तरहके प्रभुओंके सिर समान भावसे लाद दिया है। सीधी बात यह है कि इस तरहके लोग स्वयं चिरन्तन प्रयाससे बचे आरामसे अलस भावसे अपनी बँधी बँधाई बोलियोंको रटते जा रहे हैं।

जब चारों ओरकी अवस्था ऐसी है तब श्री हजारीप्रसाद द्विवेदीको 'सूर-साहित्य' पुस्तक पढ़ कर बड़ा विस्मय हुआ। इन्होंने तो पुराने या नये किसी 'कर्ता' (मालिक) को बिना विचारे प्रभु नहीं माना, अथच कहीं भी किसीके प्रति असंगत असम्मान भी नहीं दिखाया। उनके प्रत्येक मतको इन्होंने अपने विचार-बुद्धिकी कसौटीपर भली-भाँति घिस कर, परख कर, सावधानीके साथ ग्रहण या वर्जन किया है। हमारे इस 'कर्ता-भजा' * देशमें यह क्या मामूली ढिठाई है? फिर वे स्वयं माल-मसाला इकट्ठा करके भावना, चिन्ता और विचार करनेमें स्वयं प्रवृत्त होनेको कह रहे हैं। हमारे इस आराम प्रिय अलस

---

* बंगालमें 'कर्ता भजा' नामक एक सम्प्रदाय है। ये लोग विवेक, शास्त्र, आदि सबके ऊपर कर्ता (मालिक, गुरु) की वाणी ही मानते हैं। ये 'कर्ता' का ही भजन करते हैं।

देशमें यह एक दारुण दुर्लक्षण है। अब अगर ऐसी पुस्तकके बारेमें मैं एक अच्छी-सी भारी भरकम भूमिका लिखूँ तो हमारे देशके जड़ता विलासी पाठकोंको फिर एक बार बैठ कर सोचना विचारना पड़ेगा। इतनी तकलीफ उठानेको सब लोग क्यों राजी होने लगे?

इसीलिए इस ग्रन्थकी भूमिका लिखनेके लिए अनुरुद्ध होकर भी मैंने इतने तक कार्य स्थगित रखा। मेरे संकोचका हेतु क्या था, यह बात अब सब लोग समझ सकेंगे।

लेकिन भरोसा यह है कि एक श्रेणीके पाठक ऐसे हैं जरूर, यद्यपि उनकी संख्या बहुत कम है, जो सत्यके अनुसंधानके लिए सब तरहके दुःख सहनेको तैयार हैं। वे गतानुगतिक सभी प्रकारकी जड़ता और आलस्य त्याग करनेके लिए कृत-संकल्प हैं। द्विवेदीजीने इन्हीं संख्याविरल पाठकोंके लिए अपनी पुस्तक लिखी है। इसीलिए वे राधा-कृष्ण-मतवादके क्रम विकासकी आलोचना इस तरह प्रगाढ़ भावसे कर सके हैं। उन्होंने नूतन और पुरातन सब प्रकारके मतामतको चुनौती दी है, साहसके साथ विचार किया है और नाना युक्तियोंके साथ अपना सिद्धान्त उपस्थित किया है।

प्रत्न विचारके क्षेत्रमें प्रधानतः दो तरहकी विपत्तियाँ हैं। एक है अति प्राचीन करनेकी प्रवृत्ति और दूसरी है अत्यन्त नवीन करनेकी जिद। ये दोनों ही कोटिवाद (Extremism) सत्य अनुसंधानके परम शत्रु हैं।

प्राचीन कालमें किसी भी मतवादको प्रतिष्ठित करनेके लिए किसी-न किसी वैदिक या पौराणिक नामके साथ उसे युक्त करनेकी चेष्टा की गई है। ये मतवाद मानों झोले हैं जिन्हें टाँगनेके लिए ये वैदिक या पौराणिक नाम खूँटियोंके समान हैं। कभी कभी झोलेको सुरक्षित रखनेके लिए एकाधिक नामोंकी खूँटियाँ तलाश की गई हैं। इसका फल यह हुआ है कि परवर्ती कालमें भिन्न-भिन्न जातियोंकी खूँटियाँ झोलोंके गड़बड़ झालेसे एक ही जातिकी-सी प्रतीत होने लगी हैं। फिर ऐसा भी हुआ है कि एक ही खूँटीमें दो तीन तरहके झोले लटका रखे गये हैं, फिर उसी खूँटीकी दुहाई देकर भिन्न जातिके झोलोंको एक में ही चला दिया गया है।

- इसके बाद जब स्तोत्रोंकी पुरानी कहानीका विचार किया जाने लगता है तो उस स्तोत्रकी जगह हम उस खूँटीसे काल विचार शुरू करते हैं जिसमें वह लटकाया गया था। हम प्राय भूल जाते हैं कि इन स्तोत्रोंको अति प्राचीन सिद्ध करनेके लिए ही इन खूँटियोंकी खोज हुई थी। ऐसे विचारका गोलमाल अधिकतर हमीं लोगोंमें होता है।

लेकिन जो लोग बाहरसे विचार करने आते हैं उनकी समस्या दूसरी ही होती है। वे लोग अगर निरपेक्ष होते तो कोई समस्या होती ही नहीं। पर असल बात यह है कि वे साम्राज्यवादके चालक हैं और हम चालित। यह बात उनके लिए भूलना बड़ा कठिन है। इसीलिए ज्ञानत और अज्ञानत इस देशकी महिमाको खर्व करनेकी ओर उनकी प्रवृत्ति होना स्वाभाविक ही है।

इस देशके धार्मिक आन्दोलनको अगर अर्वाचीन सिद्ध किया जा सके तो सहज ही उसे इसाइ धर्मके निकट ऋणी सिद्ध किया जा सकता है। और ईसाई धर्मका जो कुछ गौरव है उसमें ये बाहरी विचारक समझते हैं कि उनका सपूर्ण दावा है। किन्तु वे भूल जाते हैं कि इसाइ धर्मके अनुवर्तियोंके दलमें कितने दिनोंसे उन्ह शरण मिली है। किसी ऐश्वर्यवानके घर अगर किसीने दया वश आश्रय पा लिया तो इसका अर्थ यह थोड़े ही है कि वह सारे ऐश्वर्यका दावादार हो गया? अगर इसाइ धर्ममें कुछ महिमा है तो उस महिमाका दावा हम लोगोंका है, क्योंकि इसाइ धर्म पूबका धर्म है, हमारे ही घरकी चीज है।

इसाइ धर्मके परवर्ती सिद्ध करनेसे ही यदि सारे भारतीय धर्म-मतको ईसाई धर्मका ऋणी सिद्ध किया जा सके तो इस एक ही कारणसे सारा इसाई धर्म ही बौद्ध धर्मका ऋणी है। यह ऋण तो अनेकांशमें सचमुच सही है। यह बात निरपेक्ष पडित-गण धीरे धीरे स्वीकार भी करने लगे हैं।

भारतवर्षका यह परम अपराध रहा है कि वह पर-मत सहिष्णु और आश्रित वत्सल रहा है। दुर्दिनमें, दुरवस्थाकी मारसे जब एक दलके इसाइ भारतके दक्षिणी हिस्सेमें शरणापन्न हुए उस समय शरणगत-वत्सल भारतने उन्हें बिना विचारे आश्रय दिया। उस दिन उसने सोचा भी नहीं था कि इन दुर्गत-आश्रितोंके सम्धर्मी इस मामूलीसे सूत्रसे भारतवर्षके सारे गौरवोंका दावा पेश करने लगेंगे।

यह दावा प्रतिष्ठित करनेके लिए युक्त-अयुक्त सभी उपायोंसे भारतके सारे भाव-ऐश्वर्यको ठेल-ठाल कर उस आभयदानके परवर्ती कालका बना दिया जायगा।

इसीलिए हम देखते हैं कि भारतीय धर्ममतके इतिवृत्तकी आलोचनाकी एक विपद् है सब कुछको अति प्राचीन सिद्ध करनेकी प्रवृत्ति और दूसरी सब कुछको अति अर्वाचीन सिद्ध करनेकी जिद। दोनों तरफके इन दो पाषाण संकटोंके भीतर तरंग-संकुल खरस्रोत-धारामेंसे भी द्विवेदीजी जो नैया खे कर घाटपर भिड़ा सके हैं, यह उनके लिए कम प्रशंसाकी बात नहीं है।

किसी एक धर्मका मूल कहां है इस बातके अनुसन्धानमें सबसे बड़ी विपद् क्या है यही कह कर मैं पाठकोंसे विदा ग्रहण करूँगा। किसी धर्म या मतवादका आरम्भ निर्णय करना बड़ा कठिन है। गङ्गाका आरम्भ कहाँ है, यह बात क्या आज भी निर्णीत हुई है? गंगोत्रीको ही गंगाका आदि स्थान क्यों माना जाय, उसके भी कितने ऊपर क्षीणसे क्षीणतर स्रोत और धाराएँ पकड़ते पकड़ते किस एक आदि बिंदुपर उसका मूल मिलेगा, कौन बता सकता है?

धर्मका यह मूल-बिन्दु बताना और भी कठिन है। हमारे अपने भीतरके ही बहुतसे भाव हमारे अज्ञात चेतन-लोकमें कितने दिनोंसे धीरे धीरे उपचित होते-होते किसी एक विशेष दिनको प्रत्यक्ष-गोचर होते हैं इस बातको क्या हमने कभी सोचकर देखा है? जिस दिन उसे हम स्फुट देखते हैं, उसी दिनको उसका जन्म दिन मान लेते हैं किन्तु उसके पीछे जो सुदीर्घ इतिहास है वह हमारे अपने भीतरकी चीज होने पर भी अपने ही निकट अगोचर है। लेकिन धर्म मत तो एक समूचे देशकी ऐसी असंख्य चिन्मय धाराओंका प्रकाश है। फिर उनके आदिकी बात निर्णय करके कौन बता सकता है? मिट्टीके नीचे असंख्य अज्ञात धाराएँ अनेक दिशाओंमें बहती रहती हैं परन्तु तृषार्त मनुष्य प्रयोजनवश उनमेंसे किसी एकका कुएँकी खुदाईके द्वारा आविष्कार करता है। लेकिन वहीं तो उसका आदि नहीं है, वहाँ तो केवल उसका परिचय पाया गया। यह बात भी बहुत कुछ इसी तरहकी है।

इसी प्रकार मध्ययुगके व्यक्त लिंगाचार तथा अव्यक्त लिंगाचार बहुविध भक्तिधाराएँ भारतवर्षमें भीतर ही भीतर दीर्घकालसे बहती आ रही थीं। बौद्ध-धर्ममें उनका परिचय बिल्कुल मिलना ही नहीं सो बात नहीं है, फिर भी हमारी

शिरा-उपशिराओंके रक्त-प्रवाहकी तरह वे हमारे अलक्ष्यमें ही बहती रहीं। जो हमारे लिए जीवनका भी जीवन हुआ करता है वही अत्यन्त अगोचर होता है। इसी समय हठात् बाहरसे मुसलमान धर्मका आगमन हुआ। इसका अर्थ यह था कि भारतके धर्म और आदर्शके सामने एक नयी चुनौती उपस्थित हुई। इसी लिए रघुनन्दन आदि निबन्धकारोंने स्मृतिशास्त्रसे जो सर्वोत्तम था, उसे सबके सामने उपस्थित किया, पूर्णानन्द, सर्वानन्द, कृष्णानन्द आदि तांत्रिक साधकोंका दल नये सिरेसे अपनी साधनाका महत्त्व प्रमाणित करने लगा और भक्ति तथा भावके साधकोंका दल सगुण निर्गुण नानाभावसे अपनी अपनी भेंट सम्पदको सबके सामने उपस्थित करने लगा। अर्थात् इतने दिनों तक जो धाराएँ अन्तःसलिला थीं, प्रयोजनवश, कुआ खोदकर उन्हें सबके सामने उपस्थित करना पड़ा।

एक धर्म-मतका इतिहास ढूँढनेके लिए यदि हम ग्रन्थ, शिलालेख आदिके लिए कोइ स्पष्ट Document (दलील) देख कर ही उसका आदि निर्णय करने लगें तो यह बड़ी भारी भूल होगी। मनुष्य अपने जन्मदिनको पैदा होता है फिर क्रमशः बड़ा होता है। इसके बाद अगर किसी दिन कोइ वैषयिक प्रयोजन उपस्थित हुआ तो शायद किसी दिन बही दलीलपर दस्तखत भी कर देता है। ऐसे भी कितने ही हैं जिन्होंने, इस जीवनमें कभी कहीं दस्तखत ही नहीं किये। इसीलिए यह तो नहीं कहा जा सकता कि इन आदमियोंका जन्म ही नहीं हुआ या इन्होंने जीवन-यात्राका निर्वाह ही नहीं किया।

इस देशमें ऐसी अनेकानेक मतवाद और साधनाएँ हो चुकी हैं और आज भी हैं जिन्होंने कभी किसी दलीलपर दस्तखत नहीं किये। किन्तु आध्यात्मिक गगन-विहारी इन ज्योतिष्क पिंडोंका परिचय वेधशालाके पंडितोंको नहीं मिला। इसीलिए इनका अस्तित्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

भारतके साधक नहीं जानते थे कि अपनी सत्ता और महिमा प्रमाणित करनेके लिए समाचार-पत्र, विज्ञापन और प्रोपेगैण्डा प्रभृतिका ढोल पीटकर खासी अमेरिकन पद्धतिसे सारे संसारमें 'बूमिंग' (Booming) करना होता है। इसीलिए भारतवर्षके साधकोंकी प्राण-पण चेष्टा अपने आपको छिपा रखनेकी थी।

अपनेको प्रचारित करनेकी चेष्टासे संसार भरके लोगोंको चकित कर देनेकी कोशिश उन्होंने कभी की ही नहीं। वृक्षका जीवन धारी मूल मिट्टीके नीचे रहता है। जीवन-का धर्म भी लोक-लोचनके अन्तरालमें रहता है। जिसे जीवनकी झंझट नहीं रहती उसीको Booming करनेमें हिचक नहीं होती। भारतके साधक-गणोंने हमारी अन्तर-चारिणी धर्म-साधनाको सबके सामने जाहिर करनेकी पापचेष्टाकी, पतिव्रता कुलवधूको वेश्या बनानेके साथ, तुलना की है। अपने मतामतको ये साधक कहीं भी विपुल करके दिखाना नहीं चाहते थे। वरन् वे बीज और अंकुरकी तरह जीवन्त धर्मको स्वल्पायतन देख कर ही उसके प्रति विश्वास रखते थे। इसीलिए उन्होंने कहा है—'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।'

स्थूल विचारसे, और जड़ दृष्टिसे देखने पर ये सब धर्ममत पैदा ही नहीं हुए। क्योंकि अदालत भाष्य किसी दलीलको सर्वसाधारणके सामने दाखिल करनेमें उन्हें संकोच हुआ था। धर्मका विचार उसके अपने महत्त्वसे, उसके अनुवर्तियोंके त्याग और साधनासे और उसकी अन्तरतम आध्यात्मिक प्राण-शक्तिसे होता है।

जिन्होंने भारतकी साधना और धर्ममतकी आलोचना की है उनके मनने बारंबार भारतीय धर्ममत और साधनाका यह रहस्य अनुभव किया है। आजकल चारों ओरका वातावरण बहिर्मुखी है, जहाँकी भाषा Booming की भाषा है। पर ये साधनाएँ हैं शान्त और अन्तर्मुखी। मौन ही इनका जीवन लक्षण है इसीलिए आज दिन उसके साथ आधुनिक वातावरणका पद-पदपर विरोध होता है पद पदपर आघात होता है। आशा करता हूँ, श्री हजारीप्रसादजीके ग्रन्थको पढ़ते पढ़ते पाठकवर्गके अन्तरमें बार बार यह वेदना जाग उठेगी। *

शांतिनिकेतन }

क्षितिमोहन सेन (शास्त्री, एम्० ए०)

प्रिन्सिपल विद्याभवन, विश्वभारती

---

* श्रद्धेय आचार्य क्षितिमोहन सेन महाशयने कृपापूर्वक यह भूमिका लिखकर 'सूर साहित्य' का जो गौरव वर्धन किया है, उसके लिए लेखक अपनी आन्तरिक कृतज्ञता ज्ञापन करता है।

विषय-सूची

सूर-साहित्य

१—राधा-कृष्णका विकास

ईसासे कमसे कम चार सौ वर्ष पूर्व वासुदेवकी पूजा चल पडी थी[1]। धीरे-धीरे वासुदेव और नारायणको एक ही समझा जाने लगा था। इतना निश्चित है कि ब्राह्मण-कालके अन्तमें नारायणको परम-दैवत माना जाने लगा था (शतपथ ब्राह्मण, १२-३४)। ऋग्वेदमें भी नारायणकी प्रधानताका प्रमाण पाया जाता है (ऋ७ १२-६-१)। तैत्तिरीय आरण्यक (१० ११) में नारायणको परम दैवतके रूपमें माने जानेकी बात पाई जाती है। महाभारत और पुराणोंमें नारायण और विष्णुको अभिन्न समझा गया है। परन्तु आरम्भमें नारायण और विष्णुका कोई सम्बध नहीं दिखाई पडता। इसमें संदेह नहीं कि विष्णु वैदिक युगके एक महत्वपूर्ण देवता थे। (ऋ० १-१५५-२, १-१५४-५ इत्यादि)

---

१ पाणिनिके एक सूत्र (४ १ ९८) से पता चलता है कि वासुदेव उस समय देवता समझे जाते थे। पाणिनिका काल कुछ निश्चित नहीं है, पर इतना नि सकोच कहा जा सकता है कि यह काल ईसासे चार सौ वर्षसे कम पुराना नहीं है। परन्तु बौद्ध जातकों (घट जातक) से यह बात प्रमाणित की जा सकती है कि वासुदेवकी पूजा और भी पुरानी है। बुद्धदेवका पूर्व जन्ममें वासुदेव होना सिद्ध करता है कि जातक युगमें वासुदेवकी महिमा प्रतिष्ठित हो चुकी थी।

ब्राह्मण-कालमें तो विष्णु सर्वोच्च देवता हो चुके थे[1] (ऐतरेय १-१ शतपथ १४-१-१)। जान पड़ता है उस युगमें नारायण और विष्णुमें कोई भेद नहीं समझा जाता था।

पुराणोंसे पता चलता है कि विष्णुका स्थान श्वेतद्वीप था। कथा सरित्-सागरमें इसीको स्वर्ग बताया गया है। भाण्डारकरका कहना है कि नारायणका श्वेत द्वीप वैसा ही है जैसा विष्णुका वैकुण्ठ, शिवका कैलास या श्रीकृष्णका गोलोक[2]। महाभारतमें लिखा है कि नारद मुनिने इसी श्वेत द्वीपसे भक्तिका आनयन किया था। इस श्वेत द्वीप

जैनशास्त्रोंमें भी महावीर स्वामीका पूर्वभवमें वासुदेव होना बताया गया है। जैकोबीने 'एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रेलिजन्स एण्ड एथिक्स' के 'अवतार' शीर्षक लेखमें बताया है कि जैनोंकी सारी वंशावली हिन्दुओंके अनुकरणपर है। वासुदेवके आदर्शपर उन्होंने जो वंशावली कल्पना की है उसमें नौ वसुदेव, नौ वासुदेव नौ बलदेव और नौ प्रति वासुदेवोंकी कल्पना है। इन बातोंसे सिद्ध होता है कि उस युगमें वासुदेव खूब प्रतिष्ठित देवता हो चुके थे। सभी सम्प्रदायोंके लोग अपने नेताओंको वासुदेवका अवतार सिद्ध करना चाहते थे। स्वयं द्वारकापति श्रीकृष्णके युगमें ही पुण्ड्र-वंग किरातोंके राजा पुण्डरीकने अपनेको वासुदेव कहकर पुजवाना शुरू कर दिया था। कृष्णने इसे मारकर अपना वासुदेवत्व स्थापित किया था। इन बातोंसे सिद्ध होता है कि वासुदेवकी पूजा इससे बहुत पुरानी है।

१ क्षीरसागर-शायी, शङ्खचक्रादिधारी विष्णु और वैदिक विष्णु एक नहीं हैं। प्रथमोक्त विष्णु किसी आर्येतर जातिके देवता हैं जो बादको वैदिक विष्णुसे मिला कर एक कर दिये गये हैं। नारायणका सम्बन्ध जलसे था, यह बात महाभारतसे सिद्ध है (महा० वन पर्व, अ० १८८ ९), पर शङ्ख और सर्प आर्य उपादान नहीं है। (दे० 'भारती' जनवरी १९३४ में लेखकका लेख और उसपर अध्यापक क्षितिमोहनसेनकी टिप्पणी।)

२ वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रेलिजस सिस्टम्स, पृ० ४२।

को लेकर यूरोपियन पंडितोने बडी बडी थियोरियाँ खडी की हैं। किसीने कहा है, यह अलेग्जेंड्रियां है, दूसरेने बैक्ट्रियो बताया है, और तीसरेने इसिकुल हृदे। समझमें नहीं आता कि इस श्वेत द्वीपके लिए इतना बावेला क्यों खडा किया गया है। यह तो एक स्वर्गकी कल्पना मात्र है [४]। इसका जो वर्णन महाभारतमें है उसके किसी अंशसे यूरोपके किसी प्रदेशका मिलना असंभव हैं। यूरोपियन पंडित सफेद होते हैं, इसलिए सफेद द्वीपका नाम आते ही कह उठते हैं कि यह द्वीप निश्चय ही यूरोप होगा। कमसे कम यूरोपियनोंसे उसका संबंध तो होगा ही। यह तो उसी प्रकारका कथन है जैसे 'टेम्स' नदीका 'तमसा' के साथ नाम-साम्य देख कोई कह उठे कि वाल्मीकिका आश्रम निश्चय ही टेम्स नदीके किनारे, अर्थात् इंग्लैंडमें था और चूँकि वहींपर कविने प्रथम श्लोक बनाया था इस लिए भारतीयोंको कविता बनानेकी शिक्षा निश्चय ही अंग्रेजोंने दी है।

---

१ ग्रियर्सन, जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी, १९०७।

२ केनेडी, ज० रा० ए० सो० १९०७।

४ श्रिय कान्त कान्ता परमपुरुष कल्पतरवो।
द्रुमा भूमिश्चिन्तामणिगणमयी तोयममृतम्॥
कथा गानं नाट्यं गमनमपि वंशी प्रियसखी।
चिदानंद ज्योति परमपि तदास्वाद्यमपि च॥
निमेषार्द्धाख्यो वा व्रजति नहि यत्रापि समय।
स यत्र क्षीराब्धि स्रवति सुरभिभ्यश्च सुमहान्॥
भजे श्वेतद्वीपं तमहमिह गोलोकमिति य।
विदन्तस्ते सन्त क्षितिविरलचारा कतिपये॥

—ब्रह्मसंहिता ५६।

इस प्रकार देखा जाता है कि नारायण ब्राह्मण-कालमें परम दैवतके रूपमें स्वीकार कर लिये गये थे। जब सात्वतोंके वासुदेवकी पूजा प्रधान हो गई तो महाभारतके युगमें वासुदेव और नारायणको एक ही देवता समझा जाने लगा। यहाँ तक आकर वासुदेव कृष्ण, विष्णु और नारायण एक हो चुके थे। पर गोपाल-कृष्णका अब तक इनसे कोई सबध नहीं था। इस प्रकारके किसी देवताका नाम न तो महाभारतके नारायणीय मतमें आता है और न पातजल महाभाष्यमें। नारायणीय वासुदेवके अवतारका उल्लेख है। इसमें कस-वधकी भी चर्चा है। पर उसमें गोपालकृष्णका नाम नहीं है। गोपालकृष्णके द्वारा मारे गये राक्षसोंका भी कोई उल्लेख नहीं मिलता।

गोपाल-कृष्णसबधी कथाओंका वर्णन हरिवश और वायुपुराणमें उपलब्ध होता है। भागवत पुराणमें कस-वध, पूतना तथा अन्य राक्षसोंका वध आदि कथाओंका विस्तृत वर्णन है। इनमें कसारि कृष्ण और गोपाल कृष्णको अभिन्न समझा गया है। इन ग्रथोंके बननेके समय निश्चय ही गोपाल कृष्णकी कथा खूब प्रचलित हो गई होगी। महाभारतके ही सभापर्व (अ० ४१) में शिशुपालके मुँहसे ऐसी बातें कहलाई गई ह जिनमें कृष्णकी गोकुलवाली कथाका आभास पाया जाता है। भाडारकर कहते हैं कि ये बातें बादकी प्रक्षिप्त होंगी क्योंकि शान्तिपर्वमें भीष्मके मुँहसे जो कृष्णस्तुति कराई गई है उसमें इन बातोंकी चर्चा नहीं है[१]। गीतामें गोविंद शब्द आया है। इसे कुछ विद्वान् 'गोपेन्द्र' शब्दका प्राकृत रूप बताते

१ वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रेलिजस सिस्टम्स, पृ० ३६।

हैं[1]। पाणिनि (३-१-१३८) पर वार्तिक लिख कर कात्यायनने इस शब्दको सिद्ध किया है। भाण्डारकरके मतसे इस शब्दका संबंध ऋग्वेदके 'गोविंद' (=इन्द्र) से अधिक संभव है[2]।

इन सारी बातोंका निष्कर्ष निकाल कर भांडारकर कहना चाहते हैं कि ईसवी सन्‌के प्रारम्भमें कृष्णके बाल्यकालमें गोकुलवासकी कथा प्रचलित नहीं होगी। कृष्ण आभीर नामक एक घुमक्कड जातिके बाल-देवता हैं। इन आभीरोंने मधुपुरसे लेकर आनर्त और अनूप तकके प्रदेशोंपर अधिकार कर लिया था। इन्हें महाभारतमें डाकू और म्लेच्छ कहा गया है। इन्होंने अर्जुन पर, जब कि वे वृष्णियोंकी स्त्रियोंको लिये जा रहे थे, आक्रमण किया था। उस समय ये पंचनदके पास रहते थे। विष्णु-पुराण और वराहमिहिरने इन्हें अपरान्त (कोंकण) और सौराष्ट्रके आसपास रहनेवाले बताया है[3]। वर्तमान अहीर इन्हीं आभीरोंकी संतान हैं। केनेडीके मतसे[4] श्रीकृष्ण जिस घुमक्कड जातिके बाल-देवता हैं उनकी वर्तमान सन्तान है जाट और गूजर। काठियावाड़में पाई गई एक लिपिसे जाना जाता है कि शक १०२ में आभीर राज्य करने लगे थे। केनेडीने बताया है कि ५वीं ६ठी शताब्दीमें आभीरोंका राजा होना यह सिद्ध करता है कि वे बहुत पूर्व आ चुके होंगे। पर काठिया-वाड़के लेखसे पता चलता है कि ईसवी सन्‌की दूसरी शताब्दीमें आभीर उच्च पदाधिकारी और शासक होते थे। निश्चय ही इनका आना बहुत पूर्व हुआ होगा। वायु पुराणमें जो कि बहुत पुराना पुराण माना जाता है,

---

१ ग्रियर्सनने इस शब्दको 'गोपेन्द्र' शब्दसे निकला हुआ बताया है। (ज० रा० ए० सो, सन् १९०७)। कीथ इस विषयमें ग्रियर्सनसे सहमत नहीं थे (ज० रा० ए० सो०, सन् १९०७)।

२ वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड माइनर रेलिजस सिस्टम्स, पृ० ३६।

३ वही पृष्ठ ३६-३७। ४ ज० रा० ए० सो० सन् १९०७। ५ वही।

जन्माष्टमीके अनुष्ठानों और अजन्ताके चित्रोंके ऊपर निर्भर है। कीयने प्रथम अशको असगत बताया है। उन्होंने कहा है कि याद रखना चाहिए कि ये अनुष्ठान स्पष्ट-पूर्व हैं। केनेडीने[1] यह तो स्वीकार किया है कि अजन्ताकी गुफाओंमें ईसाई प्रभाव है, पर वेबरके इस कथनको कि देवकीका वर्जिन रूपसे चित्रण मिश्रसे होकर आया होगा, उन्होंने ऐतिहासिक भूल माना है। उनका कहना है कि Modon। lac'ans का परिचय मिश्रमें पाचवीं शताब्दी तक अज्ञात था[2]।

यही नहीं, ईसाका वर्जिनका स्तन्य-पान करना तो उन्होंने बारहवीं शताब्दीकी कल्पना बताई[3]। वेबर जिस चित्रपर अधिक जोर देते हैं उसमें स्तन्य-पानकी बात ही महत्वपूर्ण है। क्योंकि वेबरके मतसे वह ईसाके स्तन्य-पानका अनुकरण है। यदि केनेडीकी बात सच है[4] तो ईसाके स्तन्य पानकी घटना अजन्ता अङ्कनसे कमसे कम ७ सौ वर्ष बादकी ठहरती है। फिर भी पडितोंका एक दल बाल-कृष्णको क्राइस्टका रूपान्तर कहनेमें जरा भी नहीं हिचकता।

सन्तोष नहीं हुआ और एक जगह एक और भी उद्‌गारपूर्ण टिप्पणी जड़ दी है—Tilak's conjecture that the planetes are referred to here is absurd। (वैदिक इण्डेक्स दूसरी जिल्द पृ० १३२) परन्तु ये ही यूरोपियन पण्डित भाण्डारकरके इस अनुमानको इतना महत्व देते हैं! हम तिलककी बातके समर्थक नहीं हैं, परन्तु पूछना चाहते हैं कि तिलकका अनुमान क्या इससे अधिक absurd है? यूरोपियन पण्डितोंसे अधिक इस बातको कोई नहीं जानता कि 'Christ' का मूल उच्चारण वही नहीं है जो आज अंग्रेजीमें प्रचलित है और उसपरसे बगाली या गोयानीज उच्चारण 'क्रिष्टो' या 'क्रिष्टो' होना एकदम असम्भव है।

१ ज० रा० ए० सो०, सन् १९०८, २ ज० रा० ए० सो०, सन् १९०७।
३ वही। ४ ज० रा० ए० सो०, सन् १९०७।

हम ऊपर बता चुके हैं कि आभीरोंका ख्रीष्ट-पूर्वकालमें भारतवर्षमें आना एकदम असम्भव नहीं है। मगर यह तो कोई जरूरी बात नहीं है कि बाल-कृष्णकी कथाका पतंजलि या अन्य समकालीन ग्रन्थों और शिला-लेखोंमें न पाया जाना यह भी सिद्ध कर दे कि ये आभीर सीरियासे ही चल कर आये थे। आभीर इसी देशकी पुरानी जाति हो सकती है। उनके अपने बाल-देवता भी हो सकते हैं। श्री कुमारस्वामीने कहा है कि आभीर शब्द द्रविड़ भाषाका है जिसका अर्थ होता है 'गो-पाल।' यह कहा जा सकता है और कहा भी गया है कि आभीरों (अहीर, जाट, और गूजरों) की मुखाकृति, शरीर-गठन आदि द्राविड़ नहीं बल्कि सीथियन है। केनेडी इन्हें सीथियन मानते भी हैं[1]। पर इससे उक्त अनुमानमें कोई बाधा नहीं पड़ती। हो सकता है कि आभीर नामकी कोई द्रविड़ जाति जिसका धर्म भक्ति-प्रधान और देवता बालकृष्ण हों पहलेसे ही इस देशमें रहती हो, बादको ये सीथियन जातियाँ आकर इनका धर्म ग्रहण करके अपनेको आभीर कहने लगी हों। आभीर शब्दका द्रविड़ होना और देवताका कृष्ण (काला) होना इस अनुमानका सहायक होना बताया जा सकता है। यह बात ऐतिहासिकोंके ऊहा-पोहका विषय बनी हुई है कि बाहरसे आई हुई कितनी ही जातियाँ ब्राह्मण धर्ममें शरण न पा सकी थीं[2]।

मगर इस मतपर हमारा आग्रह नहीं है। कारण यह है कि यह साराका सारा अनुमान एक मात्र आभीर शब्दपर अवलम्बित है जिसे किसी एक विद्वान्ने द्रविड शब्द बताया है। मगर यह बात न भी हो

१ ज० रा० ए० सो० सन् १९०७।

२ आर्योंमेंसे भी जो दक्षिणमें जा बसे थे अपनेको 'द्रविड' कहने लगे थे। द्रविड़ ब्राह्मण ऐसे ही हैं।

जन्माष्टमीके अनुष्ठानों और अजन्ताके चित्रोंके ऊपर निर्भर है। कीथने प्रथम अंशको असगत बताया है। उन्होंने कहा है कि याद रखना चाहिए कि ये अनुष्ठान खष्ट-पूर्व हैं। केनेडीने[1] यह तो स्वीकार किया है कि अजन्ताकी गुफाओंमें ईसाई प्रभाव है, पर वेवरके इस कथनको कि देवकीका वर्जिन रूपसे चित्रण मिश्रसे होकर आया होगा, उन्होंने ऐतिहासिक भूल माना है। उनका कहना है कि Modonn lac'ans का परिचय मिश्रमें पाचवीं शताब्दी तक अज्ञात था[2]।

यही नहीं, ईसाका वर्जिनका स्तन्य-पान करना तो उन्होंने बारहवीं शताब्दीकी कल्पना बताई[3]। वेवर जिस चित्रपर अधिक जोर देते हैं उसमें स्तन्य पानकी बात ही महत्वपूर्ण है। क्योंकि वेबरके मतसे वह ईसाके स्तन्य-पानका अनुकरण है। यदि केनेडीकी बात सच है[4] तो ईसाके स्तन्य पानकी घटना अजन्ता अङ्कनसे कमसे कम ७ सौ वर्ष बादकी ठहरती है। फिर भी पडितोंका एक दल बाल-कृष्णको क्राइस्टका रूपान्तर कहनेमें जरा भी नहीं हिचकता।

सन्तोष नहीं हुआ और एक जगह एक और भी उद्गारपूर्ण टिप्पणी जड़ दी है— Tilak's conjecture that the planetes are referred to here is absurd! (वैदिक इण्डेक्स दूसरी जिल्द पृ० १३२) परन्तु ये ही यूरोपियन पण्डित भाण्डारकरके इस अनुमानको इतना महत्व देते हैं। हम तिलककी बातके समर्थक नहीं हैं परन्तु पूछना चाहते हैं कि तिलकका अनुमान क्या इससे अधिक absurd है? यूरोपियन पण्डितोंसे अधिक इस बातको कोई नहीं जानता कि 'Christ' का मूल उच्चारण वही नहीं है जो आज अंग्रेजीमें प्रचलित है और उसपरसे बंगाली या गोयानीज उच्चारण 'क्रिष्टो' या 'क्रिष्टो' होना एकदम असम्भव है।

१ ज० रा० ए० सो०, सन् १९०८, २ ज० रा० ए० सो०, सन् १९०७।
३ वही। ४ ज० रा० ए० सो०, सन् १९०७।

हम ऊपर बता चुके हैं कि आभीरोंका खीष्ट-पूर्वकालमें भारतवर्षमें आना एकदम असभव नहीं है। मगर यह तो कोई जरूरी बात नहीं है कि बाल-कृष्णकी कथाका पतजलि या अन्य समकालीन ग्रन्थों और शिला-लेखोंमें न पाया जाना यह भी सिद्ध कर दे कि ये आभीर सीरियासे ही चल कर आये थे। आभीर इसी देशकी पुरानी जाति हो सकती है। उनके अपने बाल-देवता भी हो सकते हैं। श्री कुमारस्वामीने कहा है कि आभीर शब्द द्रविड़ भाषाका है जिसका अर्थ होता है 'गो-पाल।' यह कहा जा सकता है और कहा भी गया है कि आभीरों (अहीर, जाट, और गूजरों) की मुखाकृति, शरीर-गठन आदि द्राविड़ नहीं बल्कि सीथियन है। केनेडी इन्हें सीथियन मानते भी हैं[1]। पर इससे उक्त अनुमानमें कोई बाधा नहीं पडती। हो सकता है कि आभीर नामकी कोई द्रविड जाति जिसका धर्म भक्ति प्रधान और देवता बालकृष्ण हों पहलेसे ही इस देशमें रहती हो, बादको ये सीथियन जातियाँ आकर इनका धर्म ग्रहण करके अपनेको आभीर कहने लगी हों। आभीर शब्दका द्रविड़ होना और देवताका कृष्ण (काला) होना इस अनुमानका सहायक होना बताया जा सकता है। यह बात ऐतिहासिकोंके ऊहा पोहका विषय बनी हुई है कि बाहरसे आई हुई कितनी ही जातियाँ ब्राह्मण धर्ममें शरण न पा सकी थीं[2]।

मगर इस मतपर हमारा आग्रह नहीं है। कारण यह है कि यह साराका सारा अनुमान एक मात्र आभीर शब्दपर अवलंबित है जिसे किसी एक विद्वान्ने द्रविड-शब्द बताया है। मगर यह बात न भी हो

१ ज० रा० ए० सो० सन १९०७।

२ आर्योंमेंसे भी कुछ जो दक्षिणमें जा बसे थे अपनेको 'द्रविड' कहने लगे थे। द्रविड ब्राह्मण ऐसे ही हैं।

तो यह कैसे माना जा सकता है कि कृष्ण क्राइस्टके रूप हैं ? यह तो मानी हुई बात है कि ईसाका जन्म एशियाके देश और जातिमें हुआ था। क्या यह बात सभव नहीं है कि ईसाकी जन्म-कथा इन्हीं सीथियन आभीरोंके बाल-देवताकी जन्म-कथाका अनुकरण हो ? क्या ससारकी अन्य जातियोंकी कथाओंका प्रभाव भारतवर्षकी धार्मिक कथाओंपर ही पड़ता है, ईसाइयोंपर नहीं ? क्या ईसाइयतके जन्मके पूव ये आभीर और इनके बाल देवता थे ही नहीं ? क्या एक ही सामान्य मूलसे ईसा और कृष्णके पृथक् विकासकी बात सोची ही नहीं जा सकती ? यह तो अब सबने स्वीकार कर लिया है कि युसुफ या जोजेफ शब्द 'बोधिसत्व'का ही रूपान्तर है।

जिस प्रकार यह कहना अन्याय है कि कृष्ण क्राइस्टके रूपातर हैं उसी प्रकार यह कहना भी अनुचित है कि क्राइस्ट कृष्णके रूपातर हैं। वेबरकी युक्तियोंकी निस्सारताको जेकोबीने सिद्ध कर दिया है[1]। ग्रियर्सन साहब बता चुके हैं कि ईसवी सन्‌की पहली शताब्दीमें दो ईसाई सत भारतके उत्तर-पश्चिमी प्रदेशोंमें आ चुके थे[2]। यह भी सिद्ध हो चुका है कि ईसासे बहुत पूव आभीरोंका आगमन सम्भव है। ईसा-मसीहकी मृत्युके बाद उनकी जन्म-कथाएँ उनके शिष्य प्रशिष्योंने लिखी थीं। फिर क्या यह सम्भव नहीं कि सेंट ल्यूक[3] लिखित सुसमाचारोंमें आभीरोंके बाल-देवताका प्रभाव पड़ा हो जो भारतवर्षमें देवकी पुत्र कृष्णके रूपमें प्रख्यात हो चुके थे ? यह बात निश्चित रूपसे नहीं कही

१ एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रेलिजन एण्ड एथिक्समें 'अवतार' (Incarnation) शीर्षक लेखमें। २ ज० रा० ए० सो० सन् १९०७।

३ इसी सन्तके लिखे ईसाके जीवन चरितको पण्डितोंने इस प्रसंगमें बार-बार उद्धृत किया है।

जा सकती। पर यूरोपियन पण्डितोंके आरोपकी अपेक्षा इस बातकी सम्भावना अधिक है। क्योंकि कृष्ण अगर ईसाके रूपान्तर होते तो राधा और गोपियोंकी कथा, जो निश्चय ही आभीरोंकी देन है, उसमें नहीं आ सकती थी। क्योंकि मथुराके बाल-कृष्णसे (देवकी पुत्र कृष्ण, वासुदेव, या द्वारकाके राजा कृष्ण नहीं) मनुष्यका कोई सम्बन्ध नहीं, वे विशुद्ध देवता हैं। दूसरी ओर क्राइस्ट या ईसा मसीह मनुष्य और ईश्वरके मिले हुए रूप हैं। देवतामें कल्पनाकी प्रधानता रहती है, मनुष्यमें गौणता। कोई जाति जब किसी अन्य जातिके किसी मत या कल्पनाको अपना कर अपने नायक मनुष्यसे सम्बन्ध करती है तो उतना ही अंश ग्रहण करती है जितना उस मनुष्यकी जीवन-घटनाओंके साथ अविरुद्ध भावसे घुल-मिल सके। ईसा मसीहके लिए अगर कृष्णकी कथाओंको ग्रहण किया गया होगा तो उतना ही अंश जितना उनके ब्रह्मचारी जीवनका अविरोधी हो। पर बालकृष्णके लिए तो यहीं तक सीमा नहीं रहेगी। जो हो, ये सारी बाते कुछ महत्त्व नहीं रखतीं। असल बात यह है कि ईसा और कृष्णकी कथाएँ भारतवर्षमें आकर बसी हुई आभीर जातिके एक ही भाण्डारसे ग्रहण की गई होंगी।

यह बात सर्व-सम्मत है कि कृष्णका वर्तमान रूप नाना वैदिक अवैदिक, आर्य-अनार्य धाराओंके मिश्रणसे बना है। केनेडीने[1] इसके तीन खण्ड किये हैं—(१) द्वारकाका राजा कृष्ण जो अपने धूर्त-कृत्योंके लिए महाभारतमें बहुत विख्यात है, (२) निचली सिन्धु-उपत्यकाका अनार्य वीर जो आधा देवता है, इसने राक्षस-पैशाच आदि निंद्य विवाह किये थे, और (३) मथुराका बाल-कृष्ण। जैकोबीने[2] बताया है कि

१ ज० रा० ए० सो०, सन् १९०७।

२ एनसाइक्लोपीडिया आफ रेलिजन एण्ड एथिक्स।

पाणिनिसे पूर्व वासुदेव देवतारूपमें पूजे जाने लगे थे। छान्दोग्योपनिषत्में घोर आंगिरसके शिष्य देवकी पुत्रकी चर्चा पाई जाती है। इस ऋषि कृष्ण और देव वासुदेवके योगसे एक श्रीकृष्ण ब्राह्मण युगके अन्तमें प्रतिष्ठित हो चुके थे। इन्हींमें बादको एक कृष्ण आ मिले (१) मथुराके बाल गोपाल और (२) वृष्णियोंके नायक राजपूत कृष्ण। इस प्रकार कृष्णका विकास हुआ है। साथ ही यह भी समझ रखना चाहिए कि इस कृष्णमें वैदिक देवता विष्णु और नारायण भी मिल गये थे[1]।

ईसवी सन्के पूर्व ही वासुदेव भगवान् या परम-दैवतके रूपमें पूजित होने लगे थे। आर० गार्बेकी गीता सम्बन्धी शोधोंके आधारपर डॉ० ग्रियर्सनने यह स्वीकार कर लिया था कि गीताका कुछ अंश ख्रष्टपूर्वमें रचित हो गया था। उससे श्रीकृष्णका परम दैवत और भक्ति-उपदेशक होना सिद्ध होता है[2]। पर इस श्रीकृष्णमें आभीरोंका बाल देवता नहीं आ मिला था। वस्तुत बालकृष्णकी कथाएँ ईसासे पूर्व खूब प्रचलित हो गई थीं। यही नहीं, गोपियोंकी लीला और राधाके साथ श्रीकृष्णका सम्बंध भी इस युगमें प्रचलित होना असम्भव नहीं। हम आगे इस बातकी जाँच करेंगे।

हरिवंशके बारेमें पहले बताया जा चुका है कि इसका ख्रष्टपूर्व होना असम्भव नहीं है। इसमें श्रीकृष्णका गोपियोंके साथ केलि-क्रीडा-वर्णन पाया जाता है। गाथा सप्तशतीमें 'राधा' शब्द पाया जाता है। इसी ग्रन्थके अनुसार इसकी रचना विक्रमादित्यके राज्यमें हुई थी। यह मालवाका राजा विक्रमादित्य वही है जिसने विक्रम संवत्

१ भाण्डारकर : वैष्णविज्म, शैविज्म०।

२ एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रेलिजन एण्ड एथिक्स जिल्द २ पृ० ५४७।

चलाया था। यह बात अब ऐतिहासिकोंको अमान्य नहीं रह गई है कि विक्रम संवत्का प्रवर्तक सचमुच एक ऐतिहासिक व्यक्ति था। गाथा-सप्तशतीमें प्राचीनताके सब लक्षण हैं। उसकी प्राचीनतामें सन्देह करनेके लिए दो शब्द ही कुल जमा पाये गये हैं—राधिका और मंगलवार[1]। कहा जाता है कि वार-पद्धतिका परिचय भारतीयोंको पाँचवीं शताब्दिमें हुआ था। गौरीशंकर हीराचन्द ओझाने इस कथनको अयथार्थ बताया है क्योंकि उन्होंने एक ताम्र-पत्र पाया है जिसके अनुसार शक ९२ में बृहस्पतिवार शब्दका उल्लेख है[2]। वस्तुतः वार-गणनाका प्रचलन तो ग्रीसमें ईसासे बहुत पूर्व हो चुका था। टिबुलस नामक कविने ईसासे २६ वर्ष पहले वारोंकी चर्चा की है[3]। इससे पुराना अस्पष्ट उल्लेख भी मिला है जो ईसासे ९६ वर्ष पूर्वका है[4]। इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि ईसाके पहले वारोंका प्रचार भारतवर्षमें होना असंभव नहीं है[5]। अगर यह बात स्वीकार्य है, जो बहुत दुर्बल प्रमाणोंपर अवलंबित है, तो गाथा-सप्त शतीमें राधाका नाम आमा सिद्ध कर सकता है कि बालकृष्णकी कथा ईसासे बहुत पूर्व फैल चुकी थी। पंचतंत्रमें भी राधाका नाम आता है। पंडितोंने इसका समय पाँचवीं शताब्दीमें इसलिए भी फेंक दिया है कि इसमें राधा शब्द आता है।

१ २ भारतीय लिपिमाला, पृ० १२८ टि० में डी० आर० भण्डारकरके मतकी आलोचना देखिए।

३ नाटिकल एलमेनक, सन् १९३२ में एक्सप्लेनेशंसका सप्ताह-दिनपर विचार।

४ एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रेलिजन एण्ड एथिक्सका 'सण्डे' प्रबंध।

५ इस बातमें सन्देह होनेका एक कारण है। भारतीय ज्योतिष ग्रन्थोंमें सर्वत्र वार रविवारसे शुरू होते हैं। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि वार-पद्धति भारतवर्षमें उस समय आई होगी जब रविवार आदि दिन माना जाने लगा होगा। पहले शनिवार ही सप्ताहका आदि दिन था। रविवारका आदि दिनके रूपमें सबसे पुराना उल्लेख सन् ईसवीसे ९० वर्ष बादका पाया जाता है।

अब तक जिन प्रमाणोंकी चर्चा की गई है वे उस समयके पंडितोंकी युक्तियों द्वारा समर्थित हैं जिन्हें भासके नाटकोंका ज्ञान न था। सौभाग्यवश श्रीगणपति शास्त्रीजीने हाल ही भासके १३ नाटकोंका उद्धार किया है। इन नाटकोंके उद्धारसे बहुत-सी प्राचीन बातोंका रूप ही बदल गया है। भासके नाटकोंके कालके संबंधमें पंडितोंमें बड़ा मतभेद है। इन नाटकोंके आविष्कारक श्रीगणपति शास्त्री महाशयका मत है कि ये नाटक पाणिनिके भी पूर्ववर्ती हैं। अन्यान्य विद्वान् इन्हें इतना पुराना तो नहीं मानते परन्तु श्री के० पी० जायसवालने युक्तिपूर्वक सिद्ध करना चाहा है कि इन नाटकोंके कर्त्ता भास कण्ववंशी राजा नारायण (५३-७१ ईस्वी पूर्व) के सभाकवि थे। स्टेन कोनो इन्हें ईसवी सन्की दूसरी शताब्दीसे अधिक अर्वाचीन नहीं समझते और विंटरनिज तीसरी शताब्दीके अन्तमें या चौथी शताब्दीके शुरूमें इनका लिखा जाना अनुमान करते हैं[1]। इस बातमें सभी एकमत हैं कि इन नाटकोंकी भाषा प्राचीन, अनलंकारिक और सादी है। अन्य प्रबलतर युक्तियोंके अभावमें हमें विद्वद्वर जायसवालका मत मान्य जान पड़ता है।

इन नाटकोंमेंसे कई श्रीकृष्णकी जीवनसम्बन्धी घटनाओंके आधारपर बने हैं। बाल-चरित, दूत-वाक्य, और दूत-घटोत्कचमें सर्वत्र श्रीकृष्ण परम दैवत नारायणके रूपमें अङ्गीकार किये गये हैं। इन नाटकोंसे इतना निश्चित है कि सन् ईसवीके प्रारम्भमें श्रीकृष्णकी बाल-लीलाएँ अविकल उसी रूपमें वर्तमान थीं जिस रूपमें बादमें भागवत आदि पुराणोंमें पाइ जाती हैं। अर्थात् क्राइस्टके जन्मके बहुत पूर्व इस देशमें बाल-गोपालकी लीलाएँ बहुत प्रचलित हो गई थीं। एक उल्लेख-योग्य

१ देखिए, विंटरनिजका 'सम प्रॉबलम्स आफ इंडियन लिटरेचर' (कलकत्ता १९२५) पृ० १२४।

बात इस ग्रन्थमें यह भी है कि सारे नाटकोंमें 'राधा' का नाम कहीं नहीं आता।

नारदपंचरात्र नामक पुस्तकमें भी बालकृष्णकी महिमा गाई गई है। इस पुस्तकका एक अंश है ज्ञानामृत-सार-संहिता। इसके अनुसार नारद कृष्ण-माहात्म्य सुननेके लिए कैलासपर शिवके पास जाते हैं, वहाँ उनके महलके सात फाटकोंपर यमुना, कदम्बपर श्रीकृष्ण, वस्त्रहरण, नग्न-गोपिकाएँ, आदि लीलाएँ चित्रित थीं। इस कथाके अनुसार चित्रित एक स्तंभ जोधपुरके निकट मांडोर ग्राममें पाया गया है। (आर्क्योलाजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, वार्षिक विवरण १९०५-६ पृ० १३५ और आगे।) भाण्डारकरके कथनानुसार इसका काल ईसवी सन्की चौथी शताब्दीके पहले नहीं हो सकता[1]। और उक्त संहिता तो उन्हें सोलहवीं शताब्दीकी कृति जान पडती है[2], यद्यपि इसके लिए कोई प्रबल प्रमाण नहीं दिया गया। पुस्तक चाहे जबकी हो पर चौथी शताब्दीमें गोपियोंके साथ कृष्णकी केलि-कथा खूब प्रचलित हो गई थी, इसमें सन्देह नहीं।

सवाल यह है कि भागवत धर्ममें यह रस-रास कहाँसे आ गया? भाण्डारकरने इसका विचित्र जवाब दिया है। उनके मतसे आभीर जैसी घुमक्कड जातिमें कोई सदाचार नहीं होगा। विलासी आर्योंसे उनकी स्त्रियोंका स्वतन्त्र सम्बन्ध होता रहा होगा क्योंकि ये स्त्रियाँ खूब सुन्दरी होती होंगी[3]। इसीलिए श्रीकृष्णको भी असदाचारी बनना पडा! हमारी समझमें इस जवाबसे समाधान होनेके बजाय मामला और उलझ जाता

१ वैष्णविज्म, शैविज्म० पृ० ४१ ४२

२ वैष्णविज्म शैविज्म पृ० ४२। ३ वही, पृष्ठ ३८।

है। हम इस बातका जवाब कुछ अधिक जाँचके बाद देना अधिक उचित समझते हैं।

जिस प्रकार वासुदेव और द्वारकावासी कृष्ण एक ऐतिहासिक व्यक्तिसे उठकर परम-दैवतके आसनपर पहुँचे हैं, राधामें इस प्रकारके ऐतिहासिक व्यक्तित्वका कोई लक्षण नहीं पाया जाता। गोपियोंमें तो यह है ही नहीं, फिर मजेकी बात यह है कि भागवत, हरिवंश और विष्णु-पुराण आदि प्राचीन ग्रन्थ जो गोपाल-कृष्णकी कथाओंके उत्स हैं, उनमें भी राधाका नामोल्लेख नहीं पाया जाता। दूसरी ओर गाथा-सप्तशती और पचतन्त्रमें इस शब्दका आना इस अनुमानको सम्भव कर देता है कि राधाका अस्तित्व ईसवी सन्से पहले भी असंभव नहीं है। यह भी देखा जाता है कि राधाकी भक्तिका नया रूप दक्षिणसे आता है। इन सारी बातोंको ध्यानमें रख कर दो तरहके अनुमान किये जा सकते हैं—(१) राधा आभीर जातिकी प्रेम-देवी रही होगी जिसका सबध बालकृष्णसे रहा होगा[२]। आरम्भमें केवल बालकृष्णका वासुदेव कृष्णसे एकीकरण हुआ होगा। इसीलिए आर्य ग्रथोंमें राधाका नामोल्लेख नहीं है। पीछेसे जब बालकृष्णकी ही प्रधानता हो गई होगी तो इस बालक देवताकी सारी बातें अहीरोंसे ले ली गई होंगी। इस प्रकार राधाकी प्रधानता हो गई होगी। (२) दूसरा अनुमान यह किया जा सकता है कि राधा इसी देशकी किसी आर्य-पूर्व

१ यह बात सिद्ध हो चुकी है कि पचतत्रका वर्तमानरूप अपेक्षाकृत नवीन है पर इसका पुराना रूप ईसवी-पूर्वमें निर्मित हुआ था।

२ पुराणोंके अनुसार राधा कृष्णसे उमरमें बड़ी थीं। बालकृष्णकी कल्पनाके सिवा और किसी तरह इस बातको नहीं समझाया जा सकता।

जातिकी प्रेम-देवी रही होगी। बादमें आर्योंमें इनकी प्रधानता हो गई होगी और कृष्णके साथ इनका सम्बन्ध जोड़ दिया गया होगा।

चौदहवीं शताब्दीके अन्तमें[1] जब कि भागवत-सम्प्रदाय अपने नये रूपमें विकसित हुआ था, राधा और कृष्ण इतिहासके व्यक्ति नहीं थे। वे सम्पूर्ण भाव-जगत्की चीज हो गये थे। इस समय रामानुजने और बादको माध्व, रामान्द, वल्लभ, चैतन्य, आदि आचार्योंने जिस धर्मका प्रचार किया वह भक्ति-मूलक था। इस भक्तिवादको लेकर पडितोंमें बड़ा विवाद है। सन् १९०७ में ग्रियर्सनने[3] एक विस्तृत विवेचनाके बाद यह निष्कर्ष निकाला कि सन् ईसवीकी तीसरी शताब्दीमें सीरियाके नेस्टोरियन ईसाइयोंका एक दल मालाबारके किनारे आ बसा था। सन् ६६० ई० तक इनका कोई नियमित मठ न था। १४ वीं शताब्दीमें इन्होंने बप्तिस्मा भी छोड दिया था। सेंट थामस पर्वतपर इनका जो तीर्थ था उसमें हिन्दू भी सम्मिलित होते थे। रामानुजका जन्म और शिक्षा-दीक्षा इसी पर्वतके समीपस्थ स्थानोंपर हुई थी। इस-लिए उनके ऊपर ईसाई भक्तिवादका जबर्दस्त प्रभाव था। रामानद तो इस ईसाई प्रभावके स्रोतको आकठ पान कर चुके थे। इसलिए सारा भक्तिवाद ईसाइयोंकी देन है। कीथने[4] ग्रियर्सनके इस मतको

---

१ जयदेव (१२ वीं शताब्दी) के कालमें राधाकी प्रतिष्ठा परमा शक्तिके रूपमें हो चुकी थी। इसे देखकर सहज ही अनुमान होता है कि राधा बहुत पुराने कालसे आदृत होंगी।

२ ग्रियर्सन: एनसाइक्लोपीडिया आफ रेलिजन एण्ड एथिक्स, जि० ३, पृ० ५४४ ५।

३ ज० रा० ए० सो० सन् १९०७। ४ वही।

असगत बताया। केनेडी नामक पडितने[१] इसे सम्भव बताया। यह विवाद बहुत दिनों तक चलता रहा। सन् १९०९ में स्वय ग्रियर्सनको अपनी बातमें कुछ सन्देह होने लगा था।[२] एच० जैकोबीने ग्रियर्सनके आरोपको असंगत बताया है[३] और सुविख्यात पडित विंटरनिजने[४] यह सिद्ध कर दिया है कि भक्ति कहीं बाहरसे नहीं आई बल्कि भारतीय मिट्टीमें ही उसका बीज था। आर० गार्बेने[५] यह बात स्मरण रखनेकी चेतावना दी है कि गीतामें ऐसा कोई विचार नहीं है (भक्ति भी) जिसे भारतीयोंके विपुल विचार भाडार और उनकी विशेष प्रकारकी मनोवृत्तिके द्वारा सतोषपूर्वक न समझाया जा सके।

ग्रियर्सनने ईसाई भक्तिवाद और शाडिल्य सूत्रोंके सिद्धान्तोंकी तुलना की थी। उनका मत कुछ-कुछ इस प्रकारका जान पड़ता है कि पुराने जमानेमें ईसाई प्रभावकी संभावना हो या न हो बादको उस पर कुछ ईसाई प्रभाव जरूर पड़ा है, और वह प्रभाव कृष्ण भक्तिके ऊपर उतना नहीं है जितना राम भक्तिके ऊपर। भक्तिवादियोंमें सबसे बड़े ईसाई तुलसीदास हैं और वृद्ध ज्ञानी कबीर भी इससे खूब प्रभावित हैं। कबीरका 'शब्द' पर जोर देना ग्रियर्सन साहबको बाइबिलके शब्द सिद्धान्तकी याद दिलाये बिना नहीं रहता। वैष्णवोंका महाप्रसाद-वितरण भी ईसाइयोंके 'लभ-फीस्ट' का अनुकरण है[६]।

---

१ वही। २ एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रेलिजन एण्ड एथिक्समें 'भाक्त माग'।

३ वही, 'अवतार (Incarnation)'—शीर्षक प्रबध।

४ 'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर' प्रथम भाग।

५ एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रेलिजन एण्ड एथिक्समें 'भगवद्गीता' प्रबन्ध।

६ इन बातोंको ज० रा० ए० सो० सन् १९०७–८ के विविध वाद प्रतिवादोंसे लिया गया है। सन् १९०९ में प्रकाशित 'एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रे० एण्ड ए०' के 'भक्ति-मार्ग' शीर्षक प्रबन्धके अन्तमें तत्सम्बधी साहित्यकी चर्चा करते समय ग्रियर्सनने लिखा है कि अपने पूर्व मतपर वे साग्रह चिपटे हुए नहीं हैं।

कीथने[1] ग्रियर्सनकी सभी बातोंका जवाब दिया है। शब्दके विषयमें उन्होंने कहा था कि यह वैदिक सिद्धान्त है और ग्रीसमें Logus Doctrine ईसासे सैकड़ों वर्ष पहलेसे लेकर सैकड़ों वर्ष बाद तक प्रचलित था।

इस प्रकार शताब्दियोंकी उलट फेरके बाद प्रेम, ज्ञान, वात्सल्य, दास्य आदि विविध भावोंके मधुर आलम्बनपूर्ण ब्रह्म श्रीकृष्ण रचित हुए। सब कुछ उनमें परिपूर्ण रूपमें देखनेकी कोशिश की गई। माधुर्यके अतिरिक्त उद्रेकसे प्रेम और भक्तिका प्याला लबालब भर गया। इसी समय ब्रजभाषाका साहित्य बनना शुरू हुआ।

इस स्थानपर ब्रजभाषा काव्यकी युगल-मूर्तिका परिचय अपूर्ण ही रह जायगा यदि हम तन्त्रवाद और सहजवादका[2] रहस्य न समझ लें। तन्त्र-ग्रंथोंके निष्णात पंडितोंने बताया है कि तन्त्रमें शक्तिका रस ग्रहण शिव या आत्मा करता है। आत्मा देश और कालसे परे है—वह सीमा हीन अनन्त है। अनन्तके इसी रूपको देश-कालसे सीमित शक्ति प्रकट करती है। सीमा-हीन और ससीमके इसी खेलका नाम जगत् है। शक्तिके रसको हम संपूर्ण ग्रहण नहीं कर सकते पर स्वभावत आत्मा अपरिसीम है। शक्तिके एक देशके रससे उसे अनन्त रसका ज्ञान हो जाता है—वह अपना स्वरूप पहचानता है। उदाहरणके लिए पृथ्वीको लीजिए। हम पृथ्वीसे उत्पन्न होनेवाले सभी फल-फूलोंका रस नहीं ग्रहण कर सकते। आम-जामुनका आस्वादन करके हम पृथ्वीके नाना रसोंका अनुमान करते हैं। इस ससीम रसके आस्वादनके द्वारा हम अपरिसीम रसको हृदयगम करते हैं। स्त्री रूपसे हम महाशक्तिके

---

१ ज० रा० ए० सो० सन् १९०७।

२ सहजवादसे यहाँ हमारा मतलब उत्तरकालीन वैष्णव सहजवादसे है।

एक रसका साक्षात् करते हैं, माता रूपसे दूसरेका, भगिनी रूपसे तीसरेका। इस प्रकार कुछ सख्या-परिमित व्यक्तियोंसे महाशक्तिके अनन्त रसका ज्ञान पाते हैं। 'स्त्री' शब्दसे भ्रम नहीं होना चाहिए। लौकिक 'पुरुष' और 'स्त्री' शब्दसे इसका मतलब नहीं है। लोकमें जिस विशेष शरीर-सगठनको ''स्त्री' कहते हैं उसमें भी 'पुरुष' या 'शिव' की सत्ता है और जिसे 'पुरुष' कहते हैं उसमें 'स्त्री' या 'शक्ति' की सत्ता है। अत्यन्त हीन कोटिके कुछ तान्त्रिक सम्प्रदायोंमें कलुष वृत्तिका आ जाना उसकी ऊँची फिलॉसफीको कलकित नहीं कर सकता।

इस तन्त्र-तत्त्ववादका प्रवेश वैष्णव-सम्प्रदायमें भी हुआ है। इसके पूर्व ही सहज और शून्यवादका प्रचार था। भारतीय साधनाके इतिहासमें इन दो शब्दोंसे अधिक रहस्यमय शब्द शायद नहीं है। बुद्ध देवसे लेकर कवीर, दादू और रज्जब तक इनके अनेक अर्थ हुए हैं। सहज-मतके अनुसार मनुष्य अपने सहज स्वाभाविक रास्तेमें ही भगवान्को प्राप्त कर सकता है। युगल-मूर्तिको पूर्णता तक पहुँचानेमें इस मतवादका बड़ा हाथ है। सहज-मत तन्त्रवादके साथ कहाँ तक अग्रसर हुआ था, इस बातका अनुमान बगालके सहजीया वैष्णव सम्प्रदायकी एक शाखाके सिद्धान्तोंसे किया जा सकता है। इस मतके अनुसार चौरासी योजनका व्रज-मडल और कुछ नहीं स्त्रीका चौरासी अगुल (३॥ हाथ) का शरीर ही है, जिसमें खास व्रजकी पचकोशी पचागुल-विस्तृत अग विशेष है।

किंतु हम पाठकोंको आगाह कर देना चाहते हैं कि इस प्रकारकी कुछ बातोंसे वे सहज-सम्प्रदायके उच्चतम सिद्धान्तोंको समझनेमें भूल न करें। जो तत्त्ववाद साधारण लोक-धर्म बन जाता है उसमें इस प्रकारकी अभद्रता आ ही जाती है। सहजवादियोंका मतवाद कितना ऊँचा है

इस बातका अन्दाजा आप इसीसे लगा सकते हैं कि कविकुलगुरु रवीन्द्रने ससारके विद्वत्समाजके सामने अपने हिबर्ट लेक्चरोंमें इन्हीं सहजवादियोंको आगे किया था। बाउल, जिनके अमर गानोंसे बँगला वाङ्मय धन्य हो गया है, सहजवादी हैं। कविवर रवीन्द्रनाथकी कविता और चिंता-धारा बाउलोंसे अत्यधिक प्रभावित है। अपने हिबर्ट लेक्चरोंमें कविने परिशिष्ट-रूपमें अध्यापक क्षितिमोहन सेनका बाउल-सम्बन्धी प्रबन्ध भी जोड दिया था। कबीर और दादू सहजवादी थे। वल्लभाचार्य और सूरदासमें सहज मतवादका अस्तित्व है।

कहनेका तात्पर्य यह है कि ब्रजभाषा-काव्यके प्रारम्भ-कालमें राधा और कृष्ण इतिहास या तत्त्ववादकी चीज नहीं रह गये थे। वे सपूर्णत भाव-जगत्‌की चीज हो गये थे। भक्ति, प्रेम और माधुर्यकी नाना सम्पदाओंसे विचित्र यह युगल-मूर्ति ईश्वरका रूप तो थी पर उस ईश्वरमें वैदिक देवताओंका सभ्रम नहीं था, ग्रीक अपोलोकी भीति नहीं थी, इस्लामी खुदाकी तटस्थता नहीं थी, दार्शनिक ईश्वरकी अद्भुतता तो एकदम नहीं थी, था एक सहज, सरल, घरेलू सम्बन्ध। तन्त्रवादके ससीम रससे सीमा हीनकी उपलब्धिके सिद्धान्तने तात्कालिक जन-समुदायको, सखा रूपसे, प्रिय रूपसे, स्वामी रूपसे कृष्णकी उपासनाके प्रति अग्रसर कर दिया था। भागवत सम्प्रदायके देवदेव देवकी पुत्र वासुदेव कृष्ण इसके उपास्य अश थे और आभीरोंके बालक-देवता इसके प्रेय रूप थे। इन दोनों रूपोंमें आरोपित सहजवाद, तन्त्रवाद और बौद्ध विनय (Discipline) ने एक इत पूर्व अननुभूत, अज्ञात भाव देवकी सृष्टि की जो ब्रजभाषा काव्यका उपास्य हुआ। यहींपर कुछ रुककर हम एक बार उस युगके मनुष्योंके मनोभावोंको पहचाननेका यत्न करेंगे ताकि काव्य धाराका यथार्थ अनुशीलन सरल हो।

२—स्त्री-पूजा और उसका वैष्णव रूप

भागवत आदि पुराणोंमें गोपाल कृष्णकी जो कथा पाई जाती है उसमें गोपियोंके साथ रास-लीलाका वर्णन एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इन गोपियोंका विवाह अन्य गोपोंके साथ हो चुका था। कृष्णके साथ इनका प्रेम परकीया प्रेमके रूपमें ही हो सकता है। बंगालके चैतन्य सम्प्रदायमें परकीया-प्रेमको बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है[1]। इसे प्रेमकी चरम-सीमा बताया गया है। अनेक पंडितों, मनीषियों और भक्तोंने इस परकीया-प्रेमकी फिलॉसफीको बहुत ऊँचा उठा दिया है। हम आगे इस बातपर कुछ विचार करेंगे। यहाँ यह कह रखना उचित होगा कि वल्लभ-सम्प्रदायमें गोपियोंको परकीया नहीं समझा गया है[2]। भागवतका एक अद्‌भुत अर्थ करके यह सिद्ध किया गया है कि गोपियाँ कृष्णकी विवाहिता पत्नियाँ थीं। कथाकी संगति इस प्रकार लगाई है— भागवतमें यह कथा आती है कि ब्रह्माने श्रीकृष्णकी परीक्षाके लिए एक

---

१ मणीन्द्रमोहन बासु 'पोस्ट चैतन्य सहजीया कल्ट' ('डॉक्ट्रिन ऑफ परकीया लव' अध्याय)। श्री जीव गोस्वामिपादने भागवत सन्दर्भमें स्वकीया भावकी श्रेष्ठता प्रतिपादित करनेका प्रयत्न किया है पर चैतन्य चरितामृतमें परकीया-भावको ही श्रेष्ठ कहा है।

२ सूरदासने राधिका और कृष्णका विवाह कराया है—

बाजहिं जे बाजन सकल नभ सुर पुहुप अंजलि बरसहीं।
थकि रहे व्योम विमान मुनिगन जे शब्द करि हरसहीं।

वार सारी गायों और गोपालोंको चुरा कर छिपा दिया। इसपर श्रीकृष्णने उतनी ही गायों और गोपालोंका रूप धारण कर लिया। किसीको पता ही नहीं चला कि उनके घरका कोई खो गया है। इसी वर्ष सभी गोपियोंका विवाह हुआ। साल भरके बाद ब्रह्माने सभी गोपों और गोपालोंको लौटा दिया। इस प्रकार गोपाल फिर अपने-अपने घर आ गये। उन्हें बिल्कुल पता नहीं था कि कोई गोपी उनकी स्त्री है। इधर गोपियोंका वास्तविक विवाह श्रीकृष्णसे ही हुआ।

इस कथासे पता चलता है कि गोपियोंको परकीया माननेमें जो सामाजिक अडचन पडती थी उसका इस कथाके द्वारा निराकरण किया गया है। वस्तुत भारतवर्षमें परकीया प्रेम बहुत पुराने जमानेसे एक खास संप्रदायका धर्म-सा था। कहा जाता है कि ऋग्वेद (१०-१२९-२५) से इस परकीया-प्रेमका समर्थन होता है। अथर्ववेद (९-५-२७-२८) में इसका स्पष्ट वर्णन पाया जाना बताया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् (२-१३-१) के "काचन परिहरेत्" मन्त्रांशका अर्थ आचार्य शंकरने इस प्रकार किया है—(जो वामदेव सामन्को जानता है उसे मैथुनकी विधिका कोई बन्धन नहीं है) उसका मन्त्र है—"किसी स्त्रीको मत

सूरदासहिं भया आनँद पुजी मनकी साधा।
श्रीलाल गिरिधर नवल दुलहै दुलहिन श्री राधा॥

* * *

वारने तोरने बधाये हरि कीन्हों उछाह।
ब्रजकी सब रीति भई बरसाने व्याह॥

* * *

दुलहिन वृषभानु सुता अंग-अंग भ्राज।
सूरदास प्रभु दूलह देखो श्री ब्रजराज॥

छोडो।" अवश्य ही इस मतवादको वैदिक युगमें बहुत अच्छा नहीं समझा जाता होगा। पर इसमें सदेह नहीं कि इस प्रकारका एक सम्प्रदाय था। कहते हैं कि 'कथावत्थुजातक' (७३२) और 'मज्झिम निकाय' (जिल्द १ पृ० १०९) से भी इस प्रकारकी बातें सिद्ध होती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि स्वय बुद्धदेवके युगमें यह प्रथा खूब प्रचलित थी। उन्हें कई जगह इसकी निंदा करनी पड़ी है[1]।

सन् ईस्वीके आरम्भमें भारतवर्षमें एक विचित्र धार्मिक स्थिति थी। हिन्दू धर्म सिर उठा रहा था, बौद्ध धर्म गिर रहा था। बाहरसे आई हुई अनेक जातियोंके विविध विचार समाजमें प्रविष्ट होकर नाना संप्रदायो और मतवादोके उद्भवके कारण हो रहे थे। पतनशील बौद्धधर्म फिरसे उठनेकी चेष्टामें था। उनके धर्मके प्रति नाना कारणोंसे लोगोंकी श्रद्धा उठती जा रही थी। मघमें भिक्षु भिक्षुनियोंका अबाध व्यभिचार जारी था। अलकार ग्रन्थोंमें भिक्षुनियोंको दूती-कार्य दिया जाना[2] इस बातका सबूत है कि उस जमानेमें ये भिक्षुनियाँ केवल संघको ही नष्ट नहीं कर रही थीं बल्कि सद्गृहस्थोंको भी चौपट कर रही थीं। इन कारणोंसे साधारण जन-समाज इनसे ऊब गया था। अब बुद्धदेवकी महीयसी करुणामें वह जादू न था कि लोग उसे तरफ आकृष्ट हों। फलत इनको तन्त्र-मन्त्रका आश्रय लेकर जनताको वशमें करनेकी चेष्टा करनी पड़ी।

तन्त्र-शास्त्र एक तरफ जितना ऊँचा है, दूसरी तरफ उतना ही कुत्सित। हम इसके महत्त्वपूर्ण अगपर आगे विचार करेंगे। यहाँ दिखाना

---

१ दि कलकत्ता रिव्यू जून १९२७ पृ० ३६२ ३ और म० मो० घोष पास्ट चैतन्य सहजीया कल्ट पृष्ठ १०१ और आगे।

२ दूत्य सखी नटी दासी धात्रेयी प्रतिवेशिनी ॥
बाला प्रव्रजिता कारु शिल्पिन्याद्या स्वय तथा ॥ १८७ ॥
—साहित्य दर्पण तृतीय परिच्छेद

चाहते हैं कि इस मतवादके कारण परकीया प्रेमके आदर्शपर कैसा प्रभाव पड़ा था। यह बात सर्वविदित है कि तान्त्रिक अनुष्ठानमें स्त्री एक प्रधान उपादान है। कहा गया है कि तन्त्र-मतवादके उद्भवका कारण है आदर्शभ्रष्ट बौद्ध-संघ। भिक्षु और भिक्षुनियोंके अबाध व्यभिचारसे जब लोग संघकी ओरसे उदासीन हो रहे थे उस समय इस व्यभिचारको धार्मिक और दार्शनिक रूप दिया गया। वास्तवमें यह बात गलत है। संसारके सभी धर्मोंमें किसी न किसी रूपमें तन्त्रवादका अस्तित्व है[1]। तन्त्रवादके मूल सिद्धान्त उतने ही पुराने हैं जितनी स्वयं मनुष्य जाति। यह हो सकता है कि उस युगमें बौद्ध-संघोंके कारण इस मतवादका जोर बढ़ गया हो पर इसके लिए यह नहीं कहा जा सकता कि इसका उद्भव भी उसीसे हुआ है।

जो हो, ईसवी सन्‌के आस-पास पञ्च मकारका खूब प्रचार पाया जाता है। उस समय जनतापर इसका बड़ा प्रभाव था। शाक्तोंका एक सम्प्रदाय जो अपेक्षाकृत अधिक दार्शनिक था पराशक्तिकी उपासना स्त्री-रूपसे करता था। इस सम्प्रदायका प्रत्येक धार्मिक अनुयायी त्रिपुर-सुन्दरी (जो इस परा शक्तिका नाम है) के साथ था। इस प्रकार इस सम्प्रदायके अनुयायी ईश्वरकी पुरुष रूपमें नहीं बल्कि स्त्री रूपमें पूजा करते थे[2]। तन्त्रवादका यह ऊँचा अंग तात्कालिक पंडितोंका चित्त आकृष्ट कर रहा था। इसका प्रभाव भागवत्-सम्प्रदायपर भी पड़ा। भागवत् सम्प्रदायमें बालकृष्णका प्रवेश हो चुका था। राधा और गोपियोंके

---

१ मनीन्द्रमोहन घोस, पोस्ट चैतन्य सहजीया कल्ट पृ० १२० और आगे।

२ वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड माइनर रीलिजस पृ० १४६।

रूपमें तन्त्र शास्त्रका उक्त अंग भी इसमें सुलभ हो गया। यह बात वैष्णव-मतोंके विद्यार्थीसे छिपी नहीं है कि उत्तर-कालमें राधाका स्थान कृष्णसे भी बढ कर बताया जाने लगा था[1]।

तन्त्र-वादका दार्शनिक और आध्यात्मिक पहलू बहुत ऊँचा था परन्तु यह मत अपेक्षाकृत असंस्कृत लोगोंमें बहुत विकृत हो गया था। वैष्णवोंने राधा और कृष्णके रूपमें शक्ति-उपासनाको ग्रहण करके उसे एक शुद्ध मर्यादाके भीतर कर दिया। तन्त्र-साधनामें स्त्री अनुष्ठानका एक साधन भर थी, वैष्णव मतमें वह परम पुरुषको पूर्ण करनेवाली समझी जाने लगी। तन्त्रकी परकीया एक यांत्रिक-साधना थी किंतु वैष्णव परकीया प्रेमका साधन थी। राधाके बिना कृष्ण अपूर्ण थे। यह एक ऐसी बात है जो तन्त्र-वादसे वैष्णव भावको पृथक् कर देती है। चैतन्यदेवके वैष्णव सम्प्रदायमें परकीया प्रेमको बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है परन्तु इसे समाजमें निषेध किया गया है[2]। भक्त स्वयं अपनेको परकीया समझेगा

---

१ उत्तर वैष्णव सम्प्रदायमें कृष्णको राधाकी लीलाका आश्रय बताया गया है। श्रीकृष्णका जो अंश सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है वह है आनन्द। अद्वैत मतसे तो जीव भी सत् चित् और आनन्दस्वरूप है पर द्वैत मतमें जीवमें अन्तिम गुण नहीं माना गया है। राधाको श्रीकृष्णकी आह्लादिनी शक्ति कह कर जहाँ उनका अभेद प्रतिपादन किया गया है वहीं यह भी बताया गया है कि राधाके बिना कृष्ण अपूर्ण हैं। राधा एक शक्ति (Energy) है, कृष्ण उसकी लीलाके आश्रय। (देखिए—पोस्ट चैतन्य सहजीया कल्ट पृ० २२०—२३५)

२ उज्ज्वल नीलमणि, कृष्णवल्लभा ५। इस ग्रन्थके प्रथम अध्यायके १६ वें श्लोकपरकी टीकामें लिखा है " श्री राधाजी कृष्णकी स्वरूपाह्लादिनी शक्ति हैं इसलिए वे वस्तुतः स्वकीया ही हैं परकीया नहीं।" इस तत्त्वको समझनेके लिए यह जान लेना चाहिए कि श्रीकृष्ण सत्-चित् आनन्दरूप हैं, इसमें राधा ह्लादिनी शक्ति या

और कृष्णकी प्राप्तिके लिए अपनेको उत्सर्ग कर देगा। वह किसी परकीया स्त्रीसे प्रेम नहीं करेगा बल्कि स्वय अपनेको परकीया कर देगा। स्वकीयासे परकीयाका स्थान ऊँचा है, क्योंकि उसमें प्रेमका वेग अधिक रहता है। चैतन्य देव भावमत्त होकर जब नाच उठते थे तो प्राय यह श्लोक गाया करते थे—

" प्रिय सोऽय कृष्ण सहचरि कुरुक्षेत्रमिलित-
स्तथाऽह सा राधा तदिदमुभयोः सगमसुखम्।
तथाप्यन्त खेलन्मधुरमुरलीपचमजुषे,
मनो मे कालिन्दी पुलिन विपिनाय स्पृहयति॥ "

सूरदासके इस पदके साथ तुलना कीजिए, यह भी कुरुक्षेत्रके प्रसगका ही है—

' हरिजू वे सुख बहुरि कहाँ!
यदपि नैन निरखत वह मूरति फिरि मन जात तहाँ।
मुख मुरली सिर मोर पखौआ गर घुंघचिनको हार।
आगे धेनु रेनु तन मडित चितवन तिरछी चाल।
रात दिवस अँग-अँग अपने हित हसि मिलि खेलत खात।
सूर देखि वा प्रभुता उनकी कहि नहिं आवे बात। "

आनन्द शक्ति हैं। इसलिए वे कृष्णके आनन्द रूपकी अपनी शक्ति अर्थात् स्वकीया ठहरती हैं। इस प्रकार गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदायमें भी राधा केवल प्रेमके लिए परकीया हैं। परमार्थत स्वकीया ही हैं।

एक कहानी इस प्रसगमें कही जाती है। एक राजाकी लड़की किसी राजपुत्रसे प्रेम करने लगी। दोनों नदी किनारे एक कुजमें आया करते थे। राजाको जब यह बात मालूम हुई तो दोनोंकी शादी करा दी परन्तु विवाहित जीवनमें उन्हें वह प्रेम फीका जान पड़ने लगा। कहा जाता है कि काव्य प्रकाशका एक श्लोक इसी कहानीके आधारपर है। इस कहानीसे परकीया प्रेमकी उच्चता सिद्ध की जाती है —

३—भक्ति-तत्त्व

यह है चैतन्य महाप्रभुका विरह। भक्ति शास्त्रको चैतन्यदेव और उनके अनुयायियोंने एक पूर्ण वैज्ञानिक विवेचनका रूप दिया है। बंगालके इस भक्तिवादसे वल्लभाचार्यके भक्ति-वादका बड़ा मेल है। अन्तर यह है कि वल्लभाचार्यने अनुष्ठानको प्रधान स्थान दिया है, चैतन्यदेवने प्रेमको। चैतन्य संप्रदायमें वैधी भक्ति[1] (जो शास्त्रोंके विधि-निषेधको अनुसरण करती है), रागानुगा[2] (प्रेमकी अनुयायिनी) भक्तिसे नीचे है। वैधी भक्ति वह धारा है जो अपने दोनों किनारोंसे बँधी रहती है पर रागानुगा वह बाढ़ है जो किनारोंका बंधन तो मानती ही नहीं, सामने जो कुछ पड़ जाय उसे भी बहा ले जाती है[3]।

---

१ यत्र रागानवाप्तत्वात् प्रवृत्तिरुपजायते।
शासनेनैव शास्त्रस्य सा वैधी भक्तिरुच्यते॥
—भक्तिरसामृतसिंधु १ २ ५

२ इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत्।
तन्मयी या भवेद्भक्तिः साऽत्र रागात्मिकोदिता।
वही, १ २ १३१

३ चैतन्यचन्द्रोदयके ये श्लोक—
शास्त्रीय खलु मार्गः पृथगनुरागस्य मार्गोऽन्यः।
प्रथमोऽर्हति सनियमतामनियमतामतिमो भेजे॥ १९॥
वन्यामुत्तरणिसरणिर्जयेन गम्यं नयत्यनियतापि।
न सहज कुटिलेषु पुनर्नदी प्रवाहेष्वनियतापि॥२०॥ तृतीय अङ्क

व्रजके लोगोंकी प्रीति रागात्मिका थी, वह विधि-निषेधके परे थी। इस कलि-कालमें व्रजके लोगों जैसी भक्ति और उनका सा प्रेम संभव नहीं, इसीलिए रागात्मिका भक्ति भी संभव नहीं है। इस भक्तिका रसास्वादन करनेके लिए भक्तोंने एक सरल उपाय बताया है। वह उपाय यह है कि उस भक्तिको पानेके लिए उन्हीं व्रजवासियोंका अनुकरण किया जाय[1]। नंद रूपसे, यशोदा रूपसे, गोपी-गोपाल रूपसे यह भक्ति की जा सकती है[2]।

रागात्मिका भक्तिका अनुकरण होनेके कारण इसे रागानुगा भक्ति कहा गया है। पिता-माता, गोपाल-ग्वाल और गोपियाँ सभी श्रीकृष्णकी प्रवाह-शील भक्तिमें वह गये थे। बंगालके वैष्णव-सम्प्रदायमें चैतन्य देवके बादसे यही भक्ति प्रमुख हो गई थी। भक्तिके इस रूपको उपलब्ध करना कुछ सहज बात नहीं है। नाना सीढियोंको पार करता हुआ भक्त इस अंतिम सीढ़ीपर आता है[3]। प्रत्येक साधकको पहले वैधी भक्तिका आश्रय लेना पडता है। प्रारंभमें वह तटस्थ या प्रवर्त दशामें होता है फिर साधक और बादमें सिद्ध।

---

१ रागात्मिकैकनिष्ठा ये व्रजवासीजनादयः ।
तेषां भावाप्तये लुब्धो भवेदत्राधिकारवान् ॥—भक्तिरसतरंगिणी

२ तत्तद्भावादिमाधुर्ये श्रुते धीर्यदपेक्षते ।
नात्र शास्त्रं न युक्तिं च तल्लोभोत्पत्तिलक्षणम् ॥

३ सतां प्रसंगान्मम वीर्यसंविदो
भवंति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥
भागवत, ३ २०-२२

ठीक रागात्मिका-भक्तिकी ही भाँति रागानुगा-भक्ति भी दो प्रकारकी है—कामरूपा और सम्बन्धरूपा। विषय सम्भोग-तृष्णाको 'काम' कहते हैं। इन्द्रियार्थ ही बद्ध जीवका विषय है। इसीलिए पंडित लोग इसे काम कहा करते हैं। जिस जगह परम तत्त्वरूप भगवान् विषय रूपमें वरण किये जाते हैं उस जगह विषय-सम्भोग-तृष्णाको 'प्रेम' कहा जाता है। 'काम' और 'प्रेम' में स्वरूपगत भेद नहीं हैं, केवल विषयमात्र भेद हैं। नित्य सिद्ध जीवस्वरूप व्रजगोपियोंके प्रेमको ही व्रजतत्त्वमें 'काम' कहा गया है, क्योंकि उनमें विषयांतरका अभाव है—इनके 'काम' और 'प्रेम' में भेद नहीं है। गोपियोंकी रागात्मिका भक्ति काम-रूपा थी। उनकी भक्तिके अनुकरणकारी भक्तोंकी रागानुगा भक्तिको भी काम-रूपा कहते हैं। कामरूपा रागानुगा भक्तिमें कृष्ण-सुखके सिवा अन्य किसी सुखका अन्वेषण या उद्यम नहीं रहता।

"प्रभु-दास-सम्बन्ध, सखा-सम्बन्ध, पिता पुत्र-सम्बन्ध और दाम्पत्य-सम्बन्ध, इस तरह चार मुख्य सम्बन्धगत रागात्मिका भक्ति 'सम्बन्ध-रूपाभक्ति' कहलाती है। इस प्रकारकी सम्बन्धरूपा भक्तिके अनुकरण करनेवालोंमें भी तत्तद्‌भाव दृष्ट होते हैं।"

"वैधी भक्तिमें शास्त्र और युक्ति-गत विधि ही एक मात्र कारण है। रागानुगा भक्तिमें श्रीकृष्ण और कृष्ण भक्तकी करुणा ही एक मात्र कारण है। कोई-कोई आचार्य वैधी भक्तिको प्रेम-भक्तिका मर्यादा-स्वरूप समझकर उसे मर्यादामार्ग कहते हैं। रागानुगा भक्तिको प्रेम भक्तिकी पुष्टि कारिणी समझकर पुष्टिमार्ग नाम दिया है। (महाप्रभु वल्लभाचार्यके सम्प्रदायमें ये ही शब्द प्रचलित हैं। वल्लभ-सम्प्रदायको पुष्टिमार्ग इसीलिये कहते हैं।) वैधी भक्ति सर्वदा ऐश्वर्य-ज्ञानसे युक्त रहती है, रागानुगा

सदा उससे रहितें।" रामानन्द और तुलसीदास प्रथम मार्गके यात्री थे, वल्लभ और सूरदास दूसरेके।

वैष्णव भक्तोंने भक्तिके इतने भेद-उपभेद किये हैं कि उनका संक्षेप करना असम्भव है। इस स्थानपर मुख्य प्रेम-रसके भेदोंका विवरण दिया जा रहा है। कारण यह है कि यही विषय हमारे आलोच्य विषयसे अधिक सम्बद्ध है।

प्रेम-भक्तिकी दो अवस्थाएँ होती हैं—भाव और प्रेम। प्रेम अगर सूर्य है तो भाव उसकी किरण[2]। आलंकारिकोंके यहाँ देवादि विषयक रतिको ही भाव कहते हैं[3]। पर वैष्णवोंका भाव उससे कुछ भिन्न है। जहाँ आलंकारिक कृष्णसम्बन्धी रतिको केवल 'भाव' कहेंगे, रस नहीं, वहाँ भक्ति-शास्त्री उसे 'रस' भी कह सकते हैं। भाव शुद्ध रति है। आलंकारिकोंकी रतिसे यह रति भिन्न प्रकारकी है। स्त्री पुत्रादिकके प्रति जो रति है यह बद्ध जीवकी जड विषया रति है पर श्रीकृष्णके प्रति भक्तकी 'रति' चिद्विषया होती है। यही दोनोंमें भेद है[4]।

भावुकके नौ लक्षण बताये गये हैं—क्षान्ति, अव्यर्थकालत्व, विरक्ति, मानशून्यता, आशाबन्ध, समुत्कण्ठा, सर्वदा नाम-रुचि, कृष्ण-कथामें आसक्ति और व्रजभूमिमें प्रेम। भागवतमें गोपियोंकी भावावस्थाका वर्णन

---

१ श्रीश्रीचैतन्यशिक्षामृत, पृ० २०५–८

२ शुद्धसत्त्वविशेषात्मा प्रेमा सूर्यांशुसाम्यभाक्
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते।—भ० र०

३ रतिर्देवादि विषयो भाव प्रोक्तः। —काव्यप्रकाश

४ श्रीश्रीचैतन्यशिक्षामृत २१० ११

है—वे कहीं रोती हैं, कहीं हँसती हैं, कहीं नाचती हैं, कहीं गाती हैं और कभी चुप हो रहती हैं[1]।

यही भाव या रति जब सान्द्र (गाढ) हो उठता है तब उसे प्रेम कहते हैं[2]। रतिमें प्रियके प्रति ममता उत्पन्न होती है, प्रेममें वह ममता अनन्यताके रूपमें दिखाई देती है। प्रेमकी अवस्थामें प्रेमी अहर्निश भगवान्के प्रेममें मत्त रहता है। श्रीकृष्ण ही उसके सुनने, देखने और चिंतन करनेके विषय हो जाते हैं[3]। प्रेम भी दो प्रकारका होता है—भावोत्थ प्रेम और प्रसादोत्थ प्रेम। इनके भी अनेक भेदोपभेद बताये गये हैं। पर वस्तुत प्रेमका भेद नहीं किया जा सकता। सूरदास कहते हैं कि प्रेम प्रेमसे ही उत्पन्न होता है, प्रेमसे ही भवसागर पार किया जा सकता है, प्रेमसे ही ससार बँधा हुआ है, प्रेमसे ही परमार्थ सभव है, एक प्रेमका निश्चय ही जीवन्मुक्तिरूपी रसीला फल है, और तो और प्रेमके द्वारा ही गोपालको—जो अतिम साध्य है—पाया जा सकता

---

१ " क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचित् हसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः॥ "

—भा० ११-३-३२

२ भाव स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते। —भ० र०

३ सुनत न काहू की कही कहत न अपनी बात।
'नारायन' वा रूपमें, मगन रहत दिन-रात॥
धरत कहूँ पग परत कहुँ, सुरत नहीं इक ठौर।
'नारायण' प्रीतम बिना, दीसत नहिं कछु और॥
रुदन करे ठाढ़ो कबहुँ कबहुँ जमुनातीर।
'नारायन' नयननि बसी, मूरति स्याम सरीर॥

—कल्याण, श्रीकृष्णांक पृ० ४०४

है[1]। प्रेमोदय होने पर जीवन सार्थक हो जाता है। नददास कहते हैं—ऊँचे कर्मसे स्वर्ग मिलता है नीच कर्मसे भोग, परन्तु प्रेमके बिना सब लोग विषय-वासनाके रोगमें पच-पचके मरते हैं[2]। ऐसा है यह भगवत्प्रेम। भक्ति शास्त्रियोंने प्रेमोदयके क्रमका भी निश्चय किया है।

ऐसे मनुष्य बहुत कम हैं जिनको भगवत्प्रसादसे एकाएक प्रेमकी प्राप्ति हो जाय। साधारणत प्रेमोदय निम्नलिखित क्रमसे होता है—

१ श्रद्धा,	२ साधु-सग,	३ भजन क्रिया,
४ अनर्थनिवृत्ति,	५ निष्ठा,	६ रुचि,
७ आसक्ति,	८ भाव,	९ प्रेम।

प्रेमारुरुक्षु भक्त इस प्रकार भावुककी दशासे होता हुआ, प्रेमीकी दशामें पहुँचता है। यह प्रेम शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य-रूपसे चार प्रकारका होता है। अपने-अपने स्वभावके अनुसार भक्तको इस चार प्रकारके प्रेमका अधिकार है। अन्तिम और सर्व श्रेष्ठ रस है मधुर। इस रसमें राधिका या चन्द्रावलीके रूपसे भक्त श्रीकृष्णको प्रेम करता है। इनमें भी भगवान्‌की आह्लादिनी शक्ति होनेके कारण राधिका श्रेष्ठ हैं। अधिकार भेदसे भक्त राधिका या चन्द्रावलीकी सखियोंके भावानुसार कृष्ण-सग प्राप्त करेगा। ये सखियाँ पाँच प्रकारकी होती हैं—सखी,

---

१ प्रेम प्रेम सों होय प्रेम सों पारहि जैये।
प्रेम बँध्यो संसार, प्रेम परमारथ पैये॥
एकै निश्चय प्रेमको, जीवन मुक्ति रसाल।
साँचो निश्चय प्रेमको, जिहि तैं मिलैं गोपाल॥ —भँवर गीत।

२ ऊँच कर्म ते स्वर्ग है, नीच कर्म ते भोग।
प्रेम बिना सब पचि मरैं, विषय-वासना-रोग। —भँवर गीत।

नित्य सखी, प्राण-सखी, प्रिय-सखी, और परमप्रेम सखी[1]। इनके काम राधा या चन्द्रावलीका पक्ष-समर्थन, प्रिय-समागम-करण, हास-परिहास आदि हैं।

श्रीकृष्ण शृंगार-रसके सर्वस्व हैं। श्री राधिकाकी कृपाके बिना उस रसमें श्रीकृष्णप्राप्ति असंभव है। इस जड़ जगत्में प्रात्याहिक क्रियाके साधन-रूपमें जड़ देहमें वास करता हुआ भी भक्त भावना-दशामें सिद्ध रूपमें वास करता है। सखियोंके नाम, रूप, वय, वेश, सम्बन्ध, यूथ, आज्ञा, सेवा, पराकाष्ठा, पाल्यदासी और निवासको अपनेमें चिन्ता करते हुए भक्तोंके मनमें ललिता आदि सखियोंका अभिमान पैदा होता है और वे उस रूपकी अनुभूतिकी ओर अग्रसर होते हैं। आगे चलकर वे विशुद्ध माधुर्य रसके अधिकारी होते हैं।

भक्तोंके रसमें और काव्य-रसमें भेद यह है कि भक्तिका रस चिन्मुख होता है, आलंकारिकोंका रस जड़ोन्मुख भी। भेदकी कुछ और भी बातें हैं। इस रस-व्यापारमें पाँच भाव होते हैं—

१ स्थायी भाव, २ विभाव, ३ अनुभाव, ४ सात्विक भाव,
५ संचारी या व्यभिचारी भाव।

---

१ तत्रापि सर्वथा श्रेष्ठे राधा चंद्रावलीत्युभे।
तयोरप्युभयोर्मध्ये राधिका सर्वथाऽधिका॥
महाभावस्वरूपेयं गुणैरति गरीयसी।
ह्लादिनी या महाशक्ति सर्वशक्तिवरीयसी॥
यस्या सर्वोत्तमे यूथे सर्वसद्गुणमण्डिता।
समता माधवाकर्षी विभ्रमा संति सुभ्रुव॥
तास्तु वृन्दावनेश्वर्याः सख्य पञ्चविधा मता।
सख्यश्च नित्यसख्यश्च प्राणसख्यश्च कथन।
प्रियसख्यश्च परमप्रेष्ठसख्याश्च विश्रुताः।

इनकी परिभाषाएँ आलकारिकों जैसी ही हैं। स्थायीभाव-नाम-प्राप्त रति, विभाव, अनुभव और सात्विक तथा व्यभिचारी भावोंसे स्वाद होकर भिन्न भिन्न पाँच स्वभावोंको ग्रहण करती है—

१ शान्त स्वभाव, २ दास्य स्वभाव, ३ सख्य स्वभाव,
४ वात्सल्य स्वभाव और ५ मधुर स्वभाव।

इन पाँच स्वभावोंके अनुसार ही रति भी पाँच प्रकारकी हैं—
१ शान्ति रति, २ दास्य या प्रीति रति, ३ सख्य या प्रेय रति,
४ वात्सल्य या अनुकम्पा रति, ५ कान्त या मधुरा रति।

भक्ति शास्त्रियोंने इस रतिको शृगार और शान्तके अतिरिक्त अन्य सात रसोंके अनुसार भी विभक्त किया है। आलबन, उद्दीपन आदि विभाव तथा तेतीस व्यभिचारी भाव आदि बातें बहुत कुछ वैसी ही हैं जैसी आलकारिकोंकी। इसीलिए यहाँ उनका विस्तार नहीं किया है। जब ससारसे विरत होकर चित्तवृत्तियाँ भगवान् मुकुन्दके ज्योति स्वरूपमें लीन हो जाती हैं तो उसे शात रस कहते हैं। सनदन आदि महात्मा इसी रसके रसिया हैं। इस रसकी अवस्थामें वर्तमान भक्त की निष्ठाके सम्बन्धमें भक्ति-रसामृत सिंधु कहता है—"कब हम पर्वत-कदराके किसी विशाल वृक्षके कोटरमें बैठकर, कौपीन धारण करके, फल-मूल भोजन करके, बारबार हृदयमें उस मुकुन्द नामक चिदानन्द ज्योतिका ध्यान करते हुए रात क्षण भरकी नाईं काट देंगे[1]।' ब्रह्म-सहितामें कहा है—प्रेमके अजनसे निच्छुरित (अनुरजित) भक्तिनेत्रसे

१ कदा शैलद्रोण्यां पृथुलविटपिक्रोडवसति—
वंसान कौपीन रचितफलकदाशनरुचि।
हृदि ध्याय ध्याय मुहरिह मुकुन्दाभिधमह,
चिदानन्द ज्योति क्षणमिव हि नेष्यामि रजनी।

जिन अचिन्त्य-गुण प्रकाश श्यामसुन्दर आदि पुरुष गोविन्दको सत लोग सदा हृदय देशमें देखते हैं, मैं उन्हीका भजन करता हूँ[1]।"

प्रीत या दास्य रसमें दो भाव रहते हैं, सम्भ्रमका और गौरवका इसमें भक्त अपनेको सर्वात्मना श्रीकृष्णका दास समझता है। पर इस अनुभूतिमें भगवान्‌का माधुर्य-रूप ही प्रबल होता है। ऐश्वर्य-रूप उसके द्वारा अभिभूत हो जाता है। भक्ति शास्त्रमें दास चार प्रकारके बताये गये हैं—अधिकृत (ब्रह्मा, इन्द्र आदि), आश्रित (कालिय नाग, बहुलाश्व आदि), पारिषद (उद्धव, दारुक आदि), और अनुग (सुचंद, मण्डन आदि)।

सख्य रसमें भक्त कृष्णके प्रिय वयस्योंका अभिमानी होकर भजन करता है। श्रीकृष्णके ये मित्र उनकी नाना भाँतिकी सहायता करते हैं, उनका वेश सजा देते हैं, पुष्प-चयन करते हैं, विरहावस्थामें उनका मन बहलाते हैं, प्रेम-कलहमें श्रीकृष्णका पक्ष लेकर राधिका या चन्द्रावलीकी सखियोंको पराजित करनेकी चेष्टा करते हैं। ये भी चार प्रकारके हैं—सुहृद्, सखा, प्रिय सखा और प्रिय नर्म सखा। सुहृद्‌गण श्रीकृष्णसे बड़े थे। उनके प्रेममें वात्सल्यकी मात्रा है। ये अस्त्रादिसे राक्षसवध करते और कृष्णकी रक्षा करते थे। 'सखा' गणमें दास्यमिश्रित प्रेम था, ये कृष्णसे उम्रमें छोटे थे। प्रिय सखा केलि आदिके द्वारा श्रीकृष्णका मनोविनोद करते थे। प्रिय नर्मसखा भगवान्‌के आभ्यंतरिक रहस्यके साथी हैं, अतएव इनका स्थान सबसे श्रेष्ठ है।

---

१ प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनन
    संत मदैव हृदयेऽपि विलोकयनि।
  यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणप्रकाश
    गोविन्दमादिपुरुष तमहं भजामि ॥

कृष्णके माता पिता आदि गुरुजन वत्सल-रूपसे उनसे प्रेम करते थे। इस रसके आलम्बन कृष्ण बाल-रूप, मधुर-भाषी, आज्ञाकारी, सरल मर्यादा निर्वाहक और चपल हैं। इस भावसे भजन करनेवाले भक्त वत्सल-प्रेमी कहे जाते हैं। सूरदासके भजनोंमें इस वात्सल्य रसका सबसे सुन्दर परिपाक हुआ है[1]।

मधुर रस भक्ति शास्त्रका सबसे श्रेष्ठ और अंतिम रस है। इसीकी प्राप्तिके लिए भक्तकी सारी साधना है। इस रसके आलम्बन हैं निखिल माधुर्य-स्वरूप श्रीकृष्ण। राधिका और चन्द्रावती दो प्रधान नायिकाएँ हैं जिनकी सैकड़ों सखियाँ हैं। इन सखियोंके अलग-अलग यूथ हैं। प्रत्येक यूथकी एक-एक यूथेश्वरी है। विशाखा, ललिता, श्यामा, शैव्या, पद्मा, भद्रिका, तारा, विचित्रा, खजनाक्षी, मनोरमा, मगला, विमला, लीला, कृष्णा, सारी, विशारदा, तारावली, चकोराक्षी, शंकरी, कुंकुमा आदि व्रजांगनाएँ एक-एक यूथकी अधीश्वरी हैं। मधुर रसके उपासक भक्तकी चरम-साधना है इन्हीं सखियोंके यूथमें सम्मिलित होकर परम पुरुषके साथ अनंत, अविश्रांत लीला।

राधा और चंद्रावली सुष्ठुकांत स्वरूपा हैं। सोलह शृंगारसे ये देदीप्यमान हैं, इनके सुरूप और शोभाके सामने अलंकार फीके हैं। सुकुंचित केश, चंचल मुख-कमल, दीर्घ नेत्र, विशाल वक्षःस्थल, क्षीण

---

१ हरि बिछुरत फाट्यो न हियो।
भयो कठोर बज्र ते भारी रहिके पापी कहा कियो।
घोलि हलाहल सुनि मेरी सजनी तिहिं अवसर काहैं न पियो।
मन बुधि गइ सम्हार न तन की पूरौ दाव अक्रूर दियो।
अब का करौं कौन विधि मिलिहौं परबस प्रान लियो।
निसिदिन रटत सूरके प्रभु बिन कैसे परत जियो।

कटि, आयत स्कंध-देश, उदरपर त्रिवली, पदनखकीज्योतिसे दिशाएँ उद्भासित, सुवृत्त बाहु, पल्लवाभ करतल—रूप और श्रीका समुद्र।

श्री राधिकाके असख्य गुण हैं जिनमें २५ मुख्य हैं—

(१) वे चारुदर्शना हैं, (२) वे किशोरी हैं, (३) उनके अपाग (कटाक्ष) चचल हैं, (४) वे शुचिस्मिता हैं, उनकी हँसी पवित्र है, (५) सौभाग्ययुक्ता हैं, (६) उनकी सुगधि माधवको उन्मादित कर देती है, (७) वे अद्भुत सगीतज्ञा हैं, (८) रम्य-वचन बोलती हैं, (९) नर्म (स्निग्ध परिहास) में पडिता हैं, (१०) विनीता, (११) करुणामयी, (१२) विदग्धा (रसमयी), (१३) चतुरा, (१४) लज्जाशीला, (१५) सुमर्यादा, (१६) धैर्य शालिनी, (१७) गाम्भीर्यशालिनी, (१८) सुविलासवती, (१९) परमउत्कर्पमयी, (२०) गोकुल-प्रेम वसति, (२१) जगत् श्रेणी लसदयशा, (२२) गुरुओं-पर परम स्नेह रखनेवाली, (२३) सखियोंकी प्रणयाधीना, (२४) कृष्ण प्रियाओंमें मुख्य, और (२५) केशव सदा उनकी आज्ञाके वशवर्ती हैं।

इस प्रकार राधा भावसे भजन करता हुआ भक्त आनदघन एकरस परब्रह्म श्रीकृष्णको पाता है। राधाके प्रसादसे ही कृष्णको महाभावकी अनुभूति होती है। राधाके विना पूर्ण पुरुष अपूर्ण हैं। इस महाभावकी अनुभूतिके लिए—अपने ' रसो वै स '—स्वरूपकी पूर्णताके लिए भगवान् व्रजसुन्दरीके साथ अनन्त-लीलामें व्याप्त रहते हैं। श्रीकृष्णकी प्राप्तिका श्रेष्ठ उपाय है, राधाभावसे मधुर रसकी भक्ति। फिर एक बार यह जान रखना चाहिए कि लौकिक माधुर्यसे इस माधुर्यमें भेद है। लोकमें मधुर रस विपयस्त होकर सबके नीचे रहता है। उसके ऊपर है वात्सल्य, उसके ऊपर सख्य, फिर दास्य और अन्तमें सबके

ऊपर रहता है शान्त रस। पर यहाँ व्रजेश्वरके प्रेममें ठीक उलटी बात है। चित् जगत्के अत्यन्त निम्न भागमें शान्तस्वरूप हरधाम या निर्गुण ब्रह्मलोक है, उसके ऊपर दास्य रस या वैकुण्ठ तत्त्व है, उसके ऊपर सख्य या गोलोकस्थ सख्य रस है और सबके ऊपर है मधुर रस, जहाँ परम पुरुष व्रजाङ्गनाओंके साथ क्रीडा करते हैं[1]। अद्भुत है यह भागवत रस। व्यासदेवजी कहते हैं[2]—

" निगम-कल्पतरोर्गलित भुव शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिवत भागवतं रसमालय मुहुरहो रसिका भुवि भावुका ॥ "

---

१ श्रीचैतन्यचरितामृत पृ० ४२८
२ भागवत १० १ २

४–उस युगकी साधना और तात्कालिक समाज

१ टीका-युग और उसकी प्रधान समस्या

ईसाकी पन्द्रहवीं शताब्दीके अन्तमें किसी समय सूरदासने जन्म ग्रहण किया था और सोलहवीं शताब्दीके मध्यभाग तक ये जीवित रहे। इनका काल ईसाकी सोलहवीं शताब्दी रखा जा सकता है। इतिहासकी दृष्टिमें यह काल भारतीय संस्कृतिके पराजयका काल है। विदेशी शक्तियाँ भारतवर्षके इस कोनेसे उस कोने तक अपना आतंक विस्तार कर चुकी थीं। युद्ध विग्रहमें, वाणिज्य-व्यवसायमें, भीतरी और बाहरी राज्य व्यवस्थाओंमें—सर्वत्र विदेशियों और विधर्मियोंका हाथ था। इस देशके रहनेवालोंने अनिच्छापूर्वक, विवश होकर यह शासन व्यवस्था स्वीकार कर ली थी। बीच-बीचमें सिर उठानेकी कोशिश अगर कहीं हुई भी, तो तत्काल ही दर्प चूर्ण कर दिया गया। सचमुच यह युग इस दृष्टिसे देखनेसे अत्यन्त अन्धकारमय दिखाई देता है। भारतवर्षकी असफलताकी करुण कहानीसे इस युगके इतिहासका अध्यायका अध्याय भरा पड़ा है।

परन्तु इन सारी विघ्न बाधाओंके होते हुए भी भारतवर्ष अपने आत्म-रूपमें निस्तेज नहीं हुआ था। "यह बात माननी ही होगी कि राष्ट्रीय साधना भारतवर्षकी साधना नहीं है। एक बार बड़े-बड़े राजा

और सम्राट् हमारे देशमें दिखाई पडे थे। किंतु इनकी महिमा इन्हीं-में स्वतन्त्र है। देशके सर्वसाधारणने उस महिमाकी सृष्टि भी नहीं की, वहन या भोग भी नहीं किया। व्यक्ति विशेपकी शक्तिमें ही उस-का उद्भव और विलय हुआ। किंतु भारतवर्षकी एक अपनी साधना है, वह है उसके अन्तरकी चीज। सब प्रकारके राष्ट्रीय विपर्ययके भीतरसे उसकी धारा बहती रही है[१]।" सूरदासके युगमें भी यह धारा सूख नहीं गइ थी, बल्कि और भी स्पष्ट होकर दिखाई पडी थी। पन्द्र-हवीं और सोलहवीं शताब्दी भारतवर्षकी राजनातिक हारका युग भले ही हो, वर्तमान भारत इन शताब्दियोका ही परिणाम है। इन दो सौ वर्षोंको एक बार इतिहाससे निकाल दीजिए, फिर देखिए हम कहाँके रह जाते है। वर्तमान भारत जिन महापुरुषोंकी देन है वे—रामानन्द, वल्लभ, चैतन्य, कबीर, सूरदास, दादू, मीराबाई, तुल्सीदास, नरसी मेहता, तुकाराम—सबके सब इन्हीं दो शताब्दियोंकी उपज हैं। इन दो शताब्दियोंको छोड दिया जाय तो हिंदी-साहित्यमें तो कुछ रह ही नहीं जाता। यह एक अद्भुत् विरोधाभास है, पर है सच। देखा जाय यह बात कैसे सभव हुई।

हिंदू धर्मके शास्त्र सस्कृत भाषामें लिखे गये हैं। पन्द्रहवीं और सोल्हवीं शताब्दीको शास्त्रोंके भाष्य या टीकाका युग कह सकते हैं। मुसल्मानोंके आगमनके पहले भी सकडों जातियाँ इस देशमें आकर हिंदू-धर्मका कवच पहन चुकी थीं। नयी-नयी जातियोंके आनेसे नयी-नयी समस्याएँ खडी होती गईं और हिंदू शास्त्रकारोंने नयी-नयी स्मृतियाँ और नये-नये पुराण रच कर इन समस्याओंको हल करनेकी चेष्टा की

१ रवींद्रनाथ ठाकुर।

थी। उस समय तक हिन्दू जातिके अन्दर एक क्षीण जीवनी शक्ति वर्तमान थी। इस जीवनी शक्तिके कारण ही वह नयी व्यवस्थाएँ बना सकी थी, परन्तु मुसलमानोंके आनेसे वह शक्ति स्तम्भित-सी हो गई। अब तक जो जातियाँ आई थीं उनकी अपनी कोई जबर्दस्त संस्कृति न थी, पर मुसलमानोंकी संस्कृति केवल सशक्त और संयत ही नहीं थी उसमें भारतीय संस्कृतिके विरोधी उपादान भी थे। बड़ी विकट समस्या थी।

हिंदू जातिमें—जहाँ तक शास्त्रोंका सम्बन्ध था—मौलिकता बच नहीं रही थी। पर परम्पराकी एकांत-प्रेमी सभ्यता होनेके कारण वह शास्त्रोंको फेंक भी नहीं सकती थी। इस विकट युगमें कुछ शास्त्रकारों ने पुरानी स्मृतियों और पुराने पुराणोंके स्तूपीभूत संग्रहसे काल धर्मकी उपयोगिनी विधि-व्यवस्थाओंकी खोज शुरू की। स्मृतियोंपर नयी टीकाएँ लिखी गईं, नये-नये व्यवस्था-शास्त्र रचे गये और नये नये पुराण-ग्रन्थ भी बनाये गये। मनुके टीकाकार मेधातिथि और कुल्लूक भट्ट, मिताक्षरा टीका लिखनेवाले विज्ञानेश्वर, चतुर्वर्ग-चिंतामणि-कार हेमाद्रि, बंगालके रघुनन्दन, काशीके कमलाकर आदि बड़े-बड़े आचार्योंने इस काममें हाथ लगाया।

केवल स्मृति और पुराण ही तक यह बात सीमित नहीं रही। वेदांत, न्याय, व्याकरण, मीमांसा, ज्योतिष, वैधक, आदि सभी शास्त्रोंमें मौलिकताका कोई चिह्न नहीं मिलता। केवल टीका ही इस युगका कर्तव्य कार्य था। वेदोंका सर्वोत्तम भाष्य जिसे सायणाचार्यने लिखा, इसी युगकी उपज है। सारांश यह कि शास्त्रोंकी दृष्टिसे इस युगको टीका युग कहा जा सकता है।

रघुनन्दनको लीजिए या हेमाद्रिको, निर्णय सिंधुको देखिए या मिताक्षराको, सर्वत्र एक विशाल प्रयत्न दृष्टिगोचर होगा। राशि-राशि

स्मृतियों और पुराणोंके उद्धरण दे-देकर व्याख्याकारोंने हिंदू संस्कृतिके वास्तविक रूपको बचा रखनेकी कोशिश की। इस प्रयत्नको देखकर उस युगकी विकट समस्याका अनुमान होता है। सभी विद्वान् मानों हिन्दू शास्त्रोंकी सारी शक्ति समेटकर विदेशी शक्तिका सामना करनेको तत्पर हैं। सवाल यह है कि वह विकट समस्या क्या थी? और सूरदासके अध्ययनसे उस विकट समस्यापर कुछ प्रकाश पडता है या नहीं? क्या सूरदास स्वय एक ऐसी शक्ति थे जो भारतीय संस्कृतिकी रक्षाका प्रयत्न कर रहे थे?

इन प्रश्नोंका उत्तर जितना ही कठिन है उतना ही सरल भी है। सूरदास शायद ही कहीं ऐसी बात कह गये हों जो उस युगकी तात्कालिक परिस्थितिपर प्रकाश डाले। कारण यह है कि वे किसी युग विशेषके आदमी नहीं थे। परन्तु, सामाजिक परिस्थिति कुछ इस प्रकार जटिल और विषम हो उठी थी कि कहीं-कहीं सूरदासके पदोंमें उनकी ओर एक अस्पष्ट इंगित मिलता है। इस बातको समझनेके लिए उस युगकी साधनाका एक सक्षिप्त नाप जोख आवश्यक है।

इतिहासका विद्यार्थी, हमारे प्रश्नोंके उत्तरमें, छूटते ही कह उठेगा कि उस विकट समस्याको तो एक वाक्यमें ही बताया जा सकता है। मुसलमान बादशाह मन्दिरों और मूर्तियोंको तोड़ते जा रहे थे और हिन्दू-तीर्थोंको बरबाद कर रहे थे, नाना उचित-अनुचित उपायोंसे भोलीभाली हिन्दू जनताको मुसलमान बनाया जा रहा था, आये दिन हिन्दू भलेघरोंकी बहू-बेटियोंका सतीत्व नष्ट किया जा रहा था। इससे बढ़कर और विकट समस्या क्या हो सकती है? सचमुच इतिहास मुसलमानोंकी इसी ज्यादतीको बताकर चुप हो जाता है। परन्तु ये बातें शास्त्रीय समस्याका रूप नहीं धारण कर सकतीं। इससे बढकर

उपहासास्पद बात और क्या हो सकती है कि मुसलमान तो गदाके आघातसे सोमनाथकी मूर्तिको चूर्ण विचूर्ण करते रहें और हिन्दू इस आक्रमणसे रक्षा पानेके लिए 'मिताक्षरा' लिखा करें! नहीं, यह उत्तर हमारे प्रश्नका उचित उत्तर नहीं हुआ। हम यह स्वीकार करते हैं कि मुसलमानोंने कभी-कभी अनुचित शारीरिक बलका प्रदर्शन किया था पर उसके लिए हिन्दुओंने शारीरिक बलसे ही,—भले ही वह अल्प या असंहत हो—आत्मरक्षाकी चेष्टा की थी। वस्तुत शास्त्रीय समस्याका कारण कुछ और ही था।

बौद्ध धर्म इसके बहुत पहले लोप हो चुका था। लोपका यह अर्थ नहीं है कि वह एकदम कहीं उड़कर अन्यत्र चला गया था। असल-में वह पुनरुज्जीवित हिन्दू धर्ममें ही घुल-मिल गया था। हिन्दू सभ्यता अब पुरानी वैदिक सभ्यता नहीं रह गई थी। उसमें नाना भाँतिके अवैदिक उपादान आ मिले थे। बौद्धधर्मका दुःखवाद, वैराग्य, मूर्ति-पूजा इत्यादि बातें हिन्दू धर्मकी अपनी चीज हो गई थीं। अध्यापक क्षितिमोहन सेनने सिद्ध किया है कि बौद्ध धर्मकी ये बातें पहलेसे ही आर्येतर जातियोंमें विद्यमान थीं। आर्य-सभ्यताका प्रधान केन्द्र था यज्ञभूमि और द्रविड़ सभ्यताका तीर्थ। उत्तरकालमें यज्ञोंका स्थान तीर्थोंने ले लिया था। मुसलमानोंके आगमनके पहले हिन्दू सभ्यता प्रधानत तीर्थों, व्रतों, अनुष्ठानों और विविध प्रतीकोंकी पूजा पर ही केंद्रित थी। धर्म आन्तर-वस्तु न होकर बाहरी दिखावेका रूप धारण करता जा रहा था। बौद्धोंका प्रवर्तित वैराग्य इस युगमें अति विकृत रूपमें देखा गया। लाख-लाखकी सख्यामें काज-कर्महीन अलस साधुओंका दल व्यर्थ वैराग्यकी आँचसे हिंदू संस्कृतिको झुलसा रहा था। प्रतीक-पूजनका सात्त्विक अंश लुप्त होकर विकृत रूपको स्थान दे चुका था।

इस समय पूर्व और उत्तर भारतमें सबसे प्रबल सम्प्रदाय नाथपंथी योगियोंका था। जनताका सारा ध्यान इन अशास्त्रीय योगियोंकी ओर आकृष्ट था। ये लोग महायान बौद्ध धर्मके उत्तराधिकारी थे। इन योगियोंके परिवर्तित रूपमें तथागतके स्थानपर शिवका अधिकार हो गया था सही, पर मूलत ये बौद्ध थे। गोरखनाथ, मीननाथ आदि बड़े-बड़े साधकोंने इस साधनाको खूब समृद्ध किया। कबीर, नानक दादू आदि संतोंकी वाणियोंपर इनका यथेष्ट प्रभाव है। इसी तरह धर्म और निरंजन-मतवादकी छाप भी परवर्ती साधकोंपर है[1]। वे लोग निर्गुण ब्रह्मके उपासक थे।

इसी समय एक और धारा पश्चिमसे आई। यह शास्त्रीय मुसल्मानों (बा शरा) की साधना-धारा नहीं थी बल्कि बे-शरा (अशास्त्रीय) सूफियोंकी साधना थी। शास्त्रीय मुसल्मान हिन्दू धर्मके मर्मस्थानपर आघात नहीं कर सकते थे। वे केवल उसके शरीरको नोंच-खसोटकर दुःख भर पहुँचा सकते थे। पर इन सूफियोंने भारतके हृदयपर प्रभाव जमाया। कारण यह था कि इनका मत भारतीय साधना-पद्धतिका अविरोधी था। पर अविरोधी होनेसे क्या होगा, उसका सामंजस्य आचार-प्रधान टीका-युगके धर्मसे न हो सका। भारतवर्षकी वह धारा जो आचार प्रधान वर्णाश्रम धर्मके विधानोंके नीचे गुप्त रूपसे बह रही थी, एकाएक इस सधर्मीको पाकर विशाल वेगसे जाग पड़ी। निरंजन, नाथ आदि मार्गोंकी साधना पहलेसे ही निर्गुण ब्रह्मकी ओर प्रवृत्त थी। इन दो धाराओंके संयोगसे एक अभिनव साधनाने जन्म लिया। कबीर, दादू आदि इसी मार्गके यात्री हैं।

---

१ अध्यापक क्षितिमोहन सेन कृत 'भारतीय मध्य युगेर साधना।'

यह बात स्मरण रखनेकी है कि न तो सूफी मतवाद और न यह अभिनव निर्गुण उपासना-पद्धति ही उस विपुल वैराग्यके भारको कम कर सकी जो बौद्ध-संघके अनुकरणपर प्रतिष्ठित था। देशमें पहली बार वर्णाश्रम-व्यवस्थाको इस विकट परिस्थितिका सामना करना पड़ रहा था। अब तक वर्णाश्रम-व्यवस्थाका कोई प्रतिद्वन्दी नहीं था। आचार-भ्रष्ट व्यक्ति समाजसे अलग कर दिये जाते थे और वे एक नयी जातिकी रचना कर लेते थे। इस प्रकार सैकड़ों जातियों उपजातियोंकी सृष्टि होते रहनेपर भी वर्णाश्रम-व्यवस्था एक तरहपर चलती ही जा रही थी। इसमें अगर कभी विद्रोह हुआ था तो यह वैराग्य-प्रधान साधु-पन्थोंके द्वारा। परन्तु अबकी बार समस्या बड़ी टेढ़ी हो चली। सामने ही एक विराट् शक्तिशाली प्रतिद्वन्दी समाज था, घरमें ही वैराग्य-प्रधान साधुओंका भारी विद्रोह था, ये दो बातें ही वर्णाश्रम-व्यवस्थाको हिला देनेके लिए काफी थीं। परन्तु तीसरी शक्ति तो और भी विचित्र और अद्भुत थी। निम्न श्रेणीके साधक अपनी महिमाशालिनी प्रतिभा और साधनाके बलपर ब्राह्मणसे लेकर शूद्र तकके गुरु बन रहे थे और सो भी न तो समाजसे निकलकर और न वैराग्यकी धूनी रमा कर। इस विकट परिस्थितिको सँभालना शास्त्रके लिए असम्भव हो उठा था। टीकाकारोंने बहुत प्रयत्न किया, पर व्यर्थ।

इसी समय दक्षिणसे एक नयी धारा आई। यह धारा थी भक्तिकी कबीर आदि सन्तोंने जिस साधनाका उपदेश किया था वह भारतवर्षकी अपनी ही चीज थी, सरल और सहज थी, परन्तु तात्कालिक जन-समुदाय अपने पुराने संस्कारोंके कारण इसे तत्काल ग्रहण नहीं कर सका। कबीरदासने स्थान-स्थानपर जन-मतको काफी आघात भी पहुँचाया है जो उस युगकी संस्कार-जन्य जडताको देखकर उन्हें करना

पड़ा था। पर दक्षिण भारतसे आई हुई भक्ति-धारा साधारण जनता-के लिए बहुत दूरकी चीज नहीं जान पड़ी। इस साधनाका केन्द्र बिंदु था प्रेम। राम और कृष्णका आश्रय लेकर इस भक्तिकी साधनाने उस युगको एक नया प्रकाश दिया।

विदेशी संस्कृतिसे आत्म-रक्षाके लिए अत्र प्रधानत दो शक्तियाँ काम करने लगीं। पहली कबीर आदिकी निर्गुण-साधना और दूसरी सूरदास आदिकी सगुण-साधना। पहली शक्ति शास्त्रकारोंके लिए स्वय एक समस्या थी। इस धाराने सूफी संतोंके मतवादको भारतीय रूपमें ही प्रकट नहीं किया उन्हें भारतीय संस्कृतिसे प्रभावित भी किया। यह हिंदू प्रभावापन्न मुसलमान साधकोंका दल अपने समाजके शास्त्रकारोंके निकट ठीक उसी प्रकार उपस्थित हुआ जिस प्रकार कबीर आदिके समान साधक हिंदू शास्त्रकारोंके निकट हुए थे। किसी किसी मुसल्मान साधकको अपनेको शास्त्र-सम्मत सिद्ध करनेका प्रयत्न करना पड़ा था।

भक्त-साधकोंकी दूसरी धारा शास्त्र और परिस्थितिका सामंजस्य करती हुई आगे बढ़ी। इन्होंने शास्त्रके उन अंशोंको, जो भक्ति सिद्धांतके अविरोधी थे, ज्योंका त्यों मान लिया परन्तु अन्य अंशोंकी उपेक्षा की। हमारा यह अध्ययन केवल सूरदाससे संबंध रखता है। अत हम यहाँ न तो पहली धाराके साधकोंकी ही चर्चा करेंगे और न दूसरी धाराके अन्य भक्तोंकी। अपनी बातकी जाँचके लिए हम सूरदास और उनके समसामायिक भक्तोंके ग्रन्थोंसे ही यथासाध्य उद्धरण देनेका प्रयत्न करेंगे।

सूरदास आदि भक्त कवियोंमें कहीं विरोधकी ध्वनि नहीं है, वे अगर किसी बातको अनुचित समझेंगे तो अत्यत मृदु भाषामें उसकी

उपेक्षापर जोर देंगे। यह उपेक्षा भी वे सीधे नहीं कहेंगे। कहेंगे कविकी भाषामें, लक्षणा और व्यजनाका आवरण डालकर। इनकी तुलना उपनिषद्के ऋषियोंसे की जा सकती है जो यज्ञ-यागके विरोधी नहीं, उपेक्षक थे। सूरदासका सूर-सागर प्रेमका काव्य है। इस प्रेमकी लीलाका वर्णन करते-करते प्रसगवश वे कहीं-कहीं योग, तीर्थ आदिपर कुछ कह गये हैं। उस छोटेसे कथनसे, उस युगकी परिस्थितिपर, कभी-कभी एक हलका-सा प्रकाश पड़ जाता है।

२ सूरदासकी दृष्टिमें उस युगके साधक

सूरदासके युगमें सबसे प्रबल मतवाद था नाथपंथी योगियोंका। गोपियोंके मुखसे सूरदासने इस मतके विषयमें बहुत कुछ कहलाया है। सूरसागर पढ कर इन योगियोंके विषयमें बहुत सी बातें जानी जा सकती हैं। ये आसन, ध्यान, आराधना आदिके द्वारा साधना करते थे, मुद्रा, भस्म, विषाण, मृगचर्म आदि धारण करते थे।[1] ये आसन बाँध कर आँख मूँद कर ध्यान किया करते थे[2], और गोरखनाथका नाम लेकर अलख जगाया करते थे[3], इनका उपदेश भी सूरसागरमें दिया हुआ

---

१ आसन ध्यान, वाइ आराधन अलि मन चित तुम लाये।
अतिहि विचित्र सुबुद्धि सुलक्षण गुंज याग मति गायें।
मुद्रा भस्म विसान तुचा मृग ब्रज युवतिन मन भाये॥
(२९९१)

२ आये हैं कहियत ब्रज ऊधो ब्रज युवतिन लै योग।
आसन ध्यान नैन मूंदे सखि कैसे कटे वियोग॥
(१०५२)

३ गोरख शब्द पुकारत आरत रस रसना अनुराग।
(३१२५)

है। ये कहा करते थे, भगवान् शून्य, सहजमें वास करते हैं। इड़ला, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियोंमें होता हुआ जीवात्मा ब्रह्मसायुज्यको पाता है[1]। ये सर्व जगत्को ब्रह्ममय देखनेका उपदेश करते थे। ब्रह्म अलख है, निरजन है। इनकी साधनामें पद्मासन जमाकर आँख मूँद कर ध्यान देने पर जोर दिया जाता था। ऐसा करने पर इन लोगोंके कथनानुसार अन्तर्ज्योतिका साक्षात्कार होता था। यही अन्तर्ज्योति अच्युत, अविगत और अविनाशी है।

महायान बौद्ध धर्ममें धीरे धीरे सहजयानकी प्रधानता स्थापित हो गई थी। कहते हैं, यही सहजयान योगसे मिल कर नाथपथके रूपमें आविर्भूत हुआ। (२४०८) इन मतोंमें, सहज शून्य, निरजन आदि बातें ज्योंकी-त्यों रह गईं। परिस्थितिके अनुसार इनके अर्थोंमें हेर-फेर जरूर होता रहा, पर इनकी धारा नहीं टूटी। सहजयानकी साधनाप्रणाली, जैसे चित्त स्थिर करना, प्राणायाम, बिन्दुधारण प्रभृति बातें ज्यों-की-त्यों रह गईं। कबीरदास आदि संतोंने इन शब्दोंको ग्रहण किया था। सूरदास इन सारी योग क्रियाओं और कृच्छ्र साधनाओंको अनावश्यक समझते हैं। प्रेमके सामने ये कोई चीज नहीं। यद्यपि ये इनको विमार्गमें ले जानेका साधन नहीं समझते, उल्टे इसे बहुत ऊँचा और साधारण

१ यह उपदेस कह्यो है माधो, करि विचार सन्मुख ह्वै साधो।
इगला पिंगला सुषमना नारी, सून्यो सहजमें बसहिं मुरारी।
ब्रह्मभाव करि मैं सब देखो, अलख निरंजन ही को लेखो।
पद्मासन इक मन चित लावो, नैन मूँदि अन्तर्गत ध्यावो।
हृदय-कमलमें ज्योति प्रकाशी, सो अच्युत अविगत अविनाशी।
याहि प्रकार विषम तम तरिये, योग-पथ क्रम क्रम अनुसरिये॥

जनोंके लिए अगम्य समझते हैं[1] परन्तु उनका मत यह जान पडता है कि भक्तिरूपी सहज पथके रहते यह योगका मार्ग, सब तरहसे उच्च होते हुए भी, व्यर्थका भार है[2]।

इसके बाद निर्गुण उपासनाकी बाते हैं। निर्गुण उपासनासे सूरदासका मतलब शायद कबीरदास आदिकी साधनासे है। सूरदास इसको भी सगुण उपासनाके सामने फीका समझते हैं। इस निर्गुण उपासनाके साधकोंका कहना था कि त्रिगुणात्मक भेष त्याग करके पूर्ण ब्रह्मका ध्यान करो। भगवान्‌का न तो नाम है, न रूप। उनका कुल भी नहीं, वर्ण भी नहीं। न कोई पिता-माता है न कोई स्त्री है। वे त्रिगुणातीत हैं। यह ससार मिथ्या है। ईश्वरको सुख भी नहीं होता और दुःख भी

---

१ मधुकर हम अजान अति भारी।
जानैं कहा जोगकी बात हम हैं नवल किसोरी।
कंचनको मृग कबने देख्यो किन बाँध्यो गहि डोरी।
बिछुरी मीन थिर किन कीन्हो किन नभ घाल्यो डोरी।
कैहूँधौं मधुप बारिमथि माखन काढ़ि को भरयो कमोरी।
सब त ऊँचो ग्यान तुम्हारो हम अहीरि मति थोरी।

२ निसि दिन रसना रटत स्याम गुणको करि जोग मरौं।

* * *

ऊधोजू हमहिं न जोग सिखैये।
जेहि उपदेस मिलैं हरि हमको सो मन नेम सिखैये।

* * *

हम अबलनका जानहीं जोग जुगुतिकी रीति।
नंदनंदनको छाँडिके, को लिखि पूजै भीति।

नहीं[1]। आत्मा ही ब्रह्म है, वह घट घटव्यापक है[2]। भगवान अविगत हैं, अविनाशी हैं, पूर्ण हैं—इस निर्गुण ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं मिलती[3]।

इस मतसे सगुण उपासनाकी सरलता और उसका उत्कर्ष भी सूरसागरमें अनेक स्थानपर कहा गया है[4]। भगवानके सगुण रूपके होते हुए, निर्गुण उपासनाका आश्रय, सूरदासको पसद नहीं।

ये दो मतवाद ही उस समय जोरोंपर थे। स्वय सूरदास इनसे प्रभावित हुए थे। योग-मार्गमें कृच्छ्र साधनापर अधिक जोर दिया जाता था और निर्गुण-मार्गमें ज्ञानपर। और भी कितने ही पथ उस समय वर्तमान थे। पर उन सभी पन्थोंको दो श्रेणियोंमें विभक्त किया जा सकता है, कृच्छ्र साधना-प्रधान और ज्ञान प्रधान। कृच्छ्र साधना और

---

१ गोपी सुनहु हरि सन्देस।
कह्यो पूरन ब्रह्म ध्यावहु त्रिगुन मिथ्या भेष।
ज्ञान बिनु नर मुक्ति नाहीं, यह विषय ससार।
रूप रेख न नाम जल थल बरन अबरन सार॥
मातु पितु कोउ नाहिं नारी, जगत मिथ्या लाइ।
सूर सुख दुख नाहिं जाके भजो ताको जाइ॥ (२११९)

२ आतम ब्रह्म लखावत डोलत, घट घट व्यापक जोइ।
चाँपे काख फिरत निर्गुन गुन, इहाँ न गाहक कोइ॥

३ य अविगत अविनासी पूरन, सब घट रह्यो समाइ।
निगुन ज्ञान बिनु मुक्ति नहीं है, वेद पुरानन गाइ॥

४ ऊधो प्रेम रहित योग निरस काहेको गायो।

* * *

अविनासी निर्गुन मत कहा आनि भाख्यो।
सूरदास जीवन प्रभु कान्ह कहाँ राख्यो॥

* * *

ज्ञानमार्गकी चर्चा करते समय सूरदास उन सभी मतोंकी आलोचना कर जाते हैं जो उस समय प्रचलित थे। जहाँ-तहाँ अन्य सम्प्रदायोंका नाम भी सूरसागरमें मिल जाता है जैसे मुँड़िया या मुडित सन्यासी[१]। ये भी ज्ञान-प्रधान साधक थे। सूरदास इनकी साधनाको भी प्रेमके समकक्ष नहीं रखना चाहते।

जन-साधारणमें उस समय व्रत, पूजा, उपवास, तीर्थ आदिकी महिमा खूब प्रतिष्ठित थी। सूरदास इन सारी बातोंको व्यर्थ समझते थे[२]। इस बातमें वे निर्गुण ज्ञान-मार्गियोंसे प्रभावित हुए जान पड़ते हैं। योग, यज्ञ आदि अनुष्ठान भी उन्हें पसन्द नहीं[३]।

पर इसका मतलब यह नहीं कि सूरदास स्मार्त पक्षके विरोधी हैं। वे भक्तिको सर्वोपरि समझते हैं। अगर भक्ति है तो तीर्थ-व्रतकी जरूरत नहीं, अगर भक्ति नहीं है तो तीर्थ व्रतसे कुछ बड़ी चीजकी प्राप्ति नहीं होगी।

भगवान्‌की दृष्टिमें जाति-पाँति, कुल-शील, आदि कोई चीज नहीं

---

१ ऊधो तुम हो निकटके वासी।
यह निर्गुण लै ताहि सुनावहु जे मुड़िया बसैं कासी।

२ गनिका किये कौन व्रत संयम सुक हित नाम पढ़ावै।
मनसा करि सुमिरो गज बपुरो ग्राह परम गति पावै॥

* * *

३ काहेको अश्वमेध जग कीजै गया-श्राद्ध कासी केदार।
राम कृष्ण अभिधाम न पटतर जो तन गरै हेम हतमार॥
प्राग कल्प माये करवत दै चन्दा तरनि ग्रहन ग्छसार।
सूरदास भगवन्त भजन बिनु, यम कै दूत कौन टारै मार॥

है[1]। योगी और अयोगी उनकी दृष्टिमें समान है। केवल प्रेम चाहिए, प्रेमसे ही वे मिलते है[2]। इस प्रेमके अभावमें ससारका प्राणी व्यर्थ ही मायाके चक्रमें पडकर चौरासी लाख योनियोमें भ्रमा करता है।—यही सूरदासका अपना मत है।

३ मध्ययुगके ईसाई मरमी और सूरदास

डाक्टर ग्रियर्सनने एकाधिक बार सूरदास, नन्ददास, मीराबाई, तुलसीदास आदि भक्त कवियोंपर ईसाई प्रभावकी चर्चा की है। उन्होंने इन्हें मध्य युगके ईसाई मरमियों Bernerd of Clairvaux, Thomas a Kempis, Ekhert और St Tehrisa आदिके समान बताया है। अतएव सूरदासके विद्यार्थीको एक बार मध्य युगके ईसाई मरमी सतोंकी खोज करना आवश्यक हो गया है। हम यहाँ इन दो दो श्रेणीके मरमी भक्तोंके दृष्टिकोणोंको, जिन्हें एक ही श्रेणीका मान लिया गया है, स्पष्ट करना चाहते हैं।

---

१ राम भक्त वत्सल निज बानो।
जाति गोत कुल नाम गनत नहिं रंक होय कै रानो।

*　　*　　*

काहूके कुल नाहिं विचारत।
अविगतिकी गति कहीं कौन सों पतित सबनको तारत।
ओछे जन्म कर्मके ओछे ओछे ही बोलावत।
अनत सहाय सूरके प्रभुकी भक्त हेतु पुनि आवत।

२ प्रेम प्रेम सो होइ प्रेम सों पारहि जैये
प्रेम बँध्यो ससार प्रेम परमारथ पैये।
एकै निश्चय प्रेमको जीवन्मुक्ति रसाल
सॉचो निश्चय प्रेमको जिहितें मिलै गुपाल।

ईसवी सन्‌की बारहवीं शताब्दीके बाद फ्रांसके ईसाई मरमी संतोंकी साधनामें विश्वात्मबोधका प्राबल्य दिखाई पड़ा। उस समय "चर्चको इस समस्याका सामना करना पड़ा था कि इन मरमियोंके विश्वास (Faith) और गंभीर प्रेम (Warm love) की भावनाको कैसे उत्तेजित किया जाय।" क्योंकि भक्तिके लिए त्रैत भावना—ईश्वर, ईश्वरका पुत्र और जीव—नितांत आवश्यक थी। इसी समय सेण्ट बर्नर्ड, ह्यूगो और रिचार्ड जैसे महिमाशाली संतोंका आविर्भाव हुआ जिन्होंने शास्त्र-परम्पराके साथ मर्म भावका सामंजस्य किया। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि आत्मज्ञान ही परमात्मबोधका साधन है और आत्मपवित्रीकरण (Self purification) तत्त्वज्ञानसे कहीं ऊँचा है। तेरहवीं शताब्दीमें यूरोपियन चर्चमें प्रधानतः दो धाराएँ हो गई थीं। एक श्रेणीके संतोंकी घोषणा थी कि "आत्मा किसी नियमकी पाबंद नहीं है। इन लोगोंने खुल्लमखुल्ला स्रष्टा और सृष्टके भेदको मिटा देना चाहा।" इसी नाजुक परिस्थितिमें प्रभाव-संपन्न मरमी संत एखर्टका आविर्भाव हुआ। इन्होंने बड़ी जोरदार भाषामें बाइबिलके " Devine spark at the apex of the soul " की व्याख्या करके परमात्माको इतने निकट बताया कि आत्मा सदा सर्वदा ईश्वरके साथ है।

इन तथा अन्य ईसाई संतोंकी साधनाको थोड़ेमें इस प्रकार कहा जा सकता है—(१) आत्मसमर्पण (Self surrender) (२) अपनेमें प्रभुके जीवनकी अनुभूति (The feeling of Lord's life within us), (३) तीन दिशाएँ पवित्रीकरण, उज्ज्वलीकरण और योग या एकात्म भाव, (४) प्रतीक भावना, (५) अन्तर्दृष्टि और पाप बोधकी कोमलता।

पहली बात है Conversion अर्थात् चैतन्यका अकस्मात् उदय और धर्म-जीवनके लिए व्याकुलता। इसके बाद आता है Pergative stage अर्थात् ससारसे वैराग्य, पाप-बोध, दीनता और आत्म-त्याग। इन दो दशाओको पार करनेके बाद भक्त Illuminative stage पर आता है जब कि ससारकी प्रत्येक वस्तु उसे भगवान्की

१ तुलना कीजिए—

जनम सिरानो एसे ऐसे।
कै घर घर भरमत जदुपति बिन कै सोवत कै बैसे।
कै कहु खान पान रमनादिक कै कहुँ बाद अनैसे।
कै कहुँ रंक कहूँ इश्वरता नट बाजीगर जैसे।
चल्यो नाहिं गयो टरि अवसर मीन बिना जल जैसे।
यह गति भइ सूरकी ऐसी स्याम मिलैं धौं कैसे॥"

अब हौं नाच्यौ बहुत गुपाल।
काम क्रोधको पहिरि चोलना कठ विषयकी माल।
महा मोहके नूपुर बाजत निन्दा शब्द रसाल।

कोटिक कला काछि दिखराइ जल थल सुधि नहिं काल।
सूरदासकी सबै अविद्या दूरि करहु नँदलाल।

२ वैराग्य—

सबनि सनेहो छाँड़ि दयो।
हा जदुनाथ जरा तन ग्रास्यो प्रतिभौ उतरि गयो।

सोइ धन धाम नाम सोई कुल यह वपु जिहि बिढ़यो।
अब सबहीको वदन स्वान लौं चितवत दूरि भयो।

प्राप्तिके लिए उद्वेलित कर देती है[1] इस समय तक भक्त साधक Vision

---

दारा सुत हित चित सज्जन सब काहु न सोचि ल्यो।
सद्गति दोष विचारि सूर धनि जे हरि सरन गयो।

पापबोध—

प्रभु, हौं सब पतितनको टीकौ।
और पतित सब द्यौस चारिके हौं तो जनमत ही कौ।
बधिक अजामिल गनिका तारी और पूतना ही कौ।
मोंहि छाँड़ि तुम और उधारे मिटै शूल किम जीको।
कोऊ न समरथ सेव करन को खैंचि कहत हौं लीको।
मरियत लाज सूर पतितनमें कहत सबनमें नीकौ।

दीनता—

कृपा अब कीजिए बलि जाउँ।
नाहिन मेरे अनत कहूँ अब पद अम्बुज बिनु ठाउँ।
हौं अगुनी अकृती अपराधी सनमुख होत लजाउँ।
तुम कृपालु करुनानिधि केसव अधम उधारन-नाउँ।
काके द्वार जाइ हौं ठाढ़ो देखत काहि सुहाउँ।
असरनसरन बिरद व्यापक हौं कामी कुटिल सुभाउँ।
कलुषी परम मलीन दुष्ट हौं सेयों तो न बिकाउँ।
सूर पतितपावन पद-अम्बुज पारस क्यों परसाउँ।

आत्म-त्याग—

हमैं नँद-नंदन मोल लिये।
यमकी फाँसि काटि मुकराए अभय अजाद किये।
मूड़ मुँडाय कंठ बनमाला मुद्रा चक्र दिये।
माथे तिलक स्रवन तुलसी दल मेटे अंग लिये।
सब कोउ कहत गुलाम स्यामको सुनत सिरात हिये।

१—

देखियत चहुँ दिसि ते घन घोरे।
मानो मत्त मदनके हथियनि बल करि बंधन तोरे।

या अन्तर्दृष्टिका अधिकारी होता है। सबसे अन्तिम अवस्था है Unitive stage, जहाँ जीवात्माकी परमात्माके साथ अविच्छेद्य एकता स्थापित होती है।

सूरदासके पदोंके साथ उपरिलिखित सिद्धान्तोंको मिलाकर देखनेसे सबसे पहली बात जो मनमें आती है वह यह है कि हिन्दीके भक्त कवियोंपर ईसाई मर्म भावकी छाप पडी है। 'हिन्दीके भक्त कवियोंपर' इसलिए कहते हैं कि सूरदासमें तो यह भावना फिर भी कम है, मगर तुलसीदास, मीराबाई आदि भक्तोंमें इसी भावकी प्रधानता है। इसीलिए डॉक्टर ग्रियर्सनने तुलसीदासको 'अपनी भावनाओंमें सबसे बड़ा ईसाई' बताया है। परन्तु ग्रियर्सन साहबका कहना क्या सचमुच ठीक है? क्या सचमुच ही भक्त कवियोपर ईसाई मर्म-भावका गहरा प्रभाव पड़ा है? ऊपरसे देखनेसे तो ऐसा ही जान पडता है।

लेकिन इस प्रश्नको इतनी दूरसे देखना अनुचित होगा। वह केवल हिंदीके भक्त कवियोंके प्रति अन्याय करना न होगा, मध्ययुगके ईसाई मरमियोंके प्रति भी अन्याय करना होगा। हम इस विषयकी गहराई तक पैठनेकी कोशिश करेंगे।

यद्यपि ईसाई धर्म भक्ति-प्रधान धर्म है तथापि मूल हिब्रू संस्कारोंको वह परित्याग नहीं कर सका है। सेमेटिक विश्वासके अनुसार खुदा बहिश्त या स्वर्ग नामक एक कल्पित देव-लोकमें रहते हैं। उनके हाथों-से खिसककर जो यत्र गिर पड़ा था, वह पापमय हो गया था। वही

स्याम सुभग तनु चुअत गंड मद बरसत थोरे-थोरे।
रुकत न पौन महावत हू पै मुरत न अंकुस मोरे।
बिनु बेला बल निकसि नयन जल कुच कंचुकि बँद बोरे।
मनो निकसि बगपाँति दाँत उर अवधि सरोवर फोरे।
तब तेहि समय आनि ऐरावत ब्रजपति सों कर जोरे।
अब सुनि सूर कान्ह केहरि बिन गरत गात जैसे ओरे।

यत्र है ससार। इस पाप भूमिपर मनुष्य वास करता है, वह स्वय पापमय है। प्रभु ईसा मसीहने अवतार धारण कर इस स्वर्ग तथा पापभूमिके अन्तरको मिटानेका प्रयत्न किया था। इस व्यवधानमें वे ही मध्यस्थ हैं। चूँकि उन्हें स्वर्गसे उतरना पडा था इसलिए मर्त्य-लोकमें क्रूशसे विद्ध होना पड़ा था। वही क्रूश वे भक्तोंके लिए रख गये हैं। इसीलिए स्वर्गका अधिकारी वह है जो इस क्रूश या दुःखको वरण कर सके। ईश्वरके लिए आत्म त्याग करना आनन्दके लिए नहा, दुःखके लिए है। वह आत्म त्याग नहीं, आत्म-बलिदान है। इसीलिए ईश्वरके सान्निध्यके लिए अपनेमें निरतर पाप-बोध, निरतर दुःख-बोधको जाग्रत कर रखना नितात आवश्यक है। जिससे पाप-बोधकी भावना जाग्रत न हो वह साधना साधना ही नहीं है। जब तक मनुष्य पापात्मा होकर दुःख-वरण नहीं करेगा तब तक मुक्ति कैसी ?

साधनाके एक सिरे पर है यह दुःख, पाप, अपूर्णता और दूसरे सिरेपर है उपनिषदोंका आनद, अमृत तथा पूर्णता। 'आनन्दाद्ध्येव भूतानि जायन्ते," "आनन्दरूपममृत यद्विभाति।" पहला है मध्य-युगके ईसाई मर्मभावका उत्स और दूसरा वैष्णव भक्त कविका उद्गम-स्थान। दोनोंके मूलमें आकाश पातालका अन्तर है। एकका रास्ता है 'दुःख', दूसरेका 'लीला', एकके प्रेमका कारण है पाप-बोध, दूसरेका आनदकेलि, एकका लक्ष्य है स्वर्ग और मर्त्यके व्यवधानको भर देना, और दूसरेका ब्रह्माण्ड ब्रह्माण्डमें व्याप्त, अव्यवहित, पूर्ण, एकरस ब्रह्मको उसकी लीलाकी मधुर्णतामें उपलब्ध करना। दोनों एकदम अलग चीज है।

कहा जा सकता है कि 'क्या हुआ अगर दोनोंके दो मूल उत्स हैं, इसमें तो कोई संदेह नहीं कि परिणत अवस्थामें दोनों एक-रूप हो गये

हैं। वही पाप-बोध, दैन्य, आत्मदान दोनों ही स्थानपर दिखाई देते हैं?' मगर यह बात नहीं है। हम आगे इसी बातपर विचार करेंगे।

ईसाई भक्तिवादका दैन्य या पाप-बोध 'नहीं' की ओरका है। मनुष्य स्वभावतः ही पापात्मा है, परन्तु सूरदास आदि स्वभावतः अपनेको पापात्मा नहीं समझते। यही कारण है कि सूरदास या तुलसीदास जब अपनेको पतित कहते हैं तो उससे दास्यकी गंध निकलती है जो चैतन्य महाप्रभुके शब्दोंमें 'तृणादपि सुनीचेन' होकर रहनेकी भावनाका फल है। सूरदास जब कहते हैं कि—

> ऐसो कब करिहौ गोपाल।
> मनसा-नाथ मनोरथ-दाता हो प्रभु दीनदयाल।
> चरननि चित्त निरन्तर अनुरत रसना-चरित रसाल।
> लोचन सजल प्रेम पुलकित तन कर कंजनि दल माल॥
> ऐसो रहत लिखत छन छन जम अपने भायो भाल।
> सूर सुजस रागी न डरत मन सुनि यातना कराल॥

तो पापकी कराल यातनासे उद्धार पानेके लिए नहीं। अगर उनका मन अनुरागी हो जायगा तो उन्हें यमराजके लेखों और दंडोंकी बिलकुल परवा नहीं। पर ईसाई भक्त ईश्वरकी ओर इसलिए झुका है कि वह पापमय है और खीष्टका कृपा उसे पापसे मुक्त कर देगा। दूसरा अन्तर जो इन दोनों भावनाओंमें है वह यह है कि सूरदास आदि भक्तकवियोंका पाप वा बाह्य आगन्तुक वस्तु है, परन्तु ईसाई भक्तोंका पाप आन्तर और स्वाभाविक वस्तु है। तीसरा अन्तर यह है कि सूरदास या तुलसीदासकी पाप भावना वैयक्तिक है और ईसाई भक्ति-वाद इस वैयक्तिकताके एकदम विरुद्ध है।

ईसाई मर्म-भावनाके साधकोंमेंसे कुछ ऐसे अवश्य हैं जिनके साथ इन भक्त-कवियोंकी तुलनाकी जा सके। ईसाई धर्मके ईश्वरके दो रूपों, ससीम और असीमको, लेकर इन्होंने ठीक वैसी ही सृष्टि की है जैसी वैष्णव कवियोंने। ईश्वर, इनके अनुसार शक्तिमें अनन्त है, किन्तु प्रेममें सान्त। इस प्रकारके भक्तोंमें Jaccub Bohme आदिका नाम लिया जा सकता है।

आगे चलकर यह स्पष्ट होगा कि व्रज भाषाके कवि नितांत प्रत्यक्ष, ठोस रूपके उपासक हैं[1]। मगर व्रजभाषाकी कविता भगवान्‌के असीम अरूपकी कल्पनाको पूर्वसे ही स्वीकार कर अग्रसर होती है। एक बार वह स्वीकार कर लेती है कि श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं—अनादि, अनन्त, अखड, अछेद, अभेद और राधिका उनकी ह्लादिनी चिन्मयी शक्ति हैं—आश्रित, आसक्त, सापेक्ष[2]। इसी सापेक्ष और निरपेक्षके द्वन्द्वको व्रजका कवि अपनी कलासे अभिव्यक्त करने जा रहा है। इतना स्वीकार कर लेनेके बाद वह लेखनी उठाता है और फिर भूल जाता है कि उसने किस पूर्व-स्वीकृत रूपककी नींवपर अपना भक्ति और प्रेमका प्रासाद खड़ा किया था। ईसाई मरमी कभी इस बातको नहीं भूलता। इसीलिए ईसाई साधक भक्तके सिंहासनपर आकर रुक जाता है और वैष्णव भक्त और भी ऊपर उठकर कविके आसनपर बैठ जाता है। यहाँ वह समर्थ और सुन्दरके भेद भाव एक दम भूल जाता है।

४ उस युगका समाज और सूरदासकी साधना

सूर-सागरके पढ़नेसे उस युगके समाजका एक चित्र, जो सर्वांग-पूर्ण तो नहीं कहा जा सकता, पर पर्याप्त जरूर है, आँखोंके सामने खिंच

१ परिशिष्ट क। २ भूमिका।

आता है। देखा जाय सूरदासकी साधनासे उसका क्या सम्बन्ध था। यह कह रखना उचित होगा कि हमारा मतलब यहाँ साधनाके आलबन, या तद्द्वारा प्रभावित समाजसे ही है। वैसे सूरदासके विद्यार्थीको यह पता लगाना भी बहुत मुश्किल नहीं है कि उस जमानेके परचूनीकी दूकानपर क्या-क्या चीजें सुलभ थीं[1] या उस युगकी स्त्रियाँ किस तरह बाल सँवारती थीं, कौन-कौनसे गहने पहनती थीं। हम यह मानते हैं कि इन चीजोंका भी ऐतिहासिक मूल्य है, परन्तु हमारे अध्ययनका साधनासे अधिक सम्बन्ध है। अवसर मिलनेपर इन विषयोंकी चर्चा भी की जायगी, पर यहाँ नहीं।

यह ध्यान देनेकी बात है कि दक्षिणसे जो भक्तिकी धारा उत्तर भारतमें आई थी वह सर्वत्र एक ही समान नहीं बनी रही। बगालमें

---

१ पाठकोंके कुतूहल-निवारणके लिए यहाँ हम बता देना चाहते हैं कि उस युगमें बनिया लोग "लौंग, नारियल, दाख, सुपारी" "हींग, मिरच, पीपर, अजवाइन" "कूट, काइफर, सोंठि, चिरैता, कटजीरा" "आल, मजीठ लाख, सेंदुर" "बाइबिरंग, बहेरा, हर्रे" इत्यादि चीजें बेंचा करते थे।

> "कहो कान्ह कहा गयहैं हमसों।
> जा कारन जुवती सब अटकीं सो बूझत हैं तुम सों।
> लौंग नारियल दाख सुपारी कहा लादे हम आवैं।
> हींग मिरच पीपर अजवाइन ये सब बनिज कहावैं।
> कूट काइफर सोंठ चिरैता करजीरा कहुँ देखत।
> आल मजीठ लाख सेंदुर कहुँ ऐसे हि बिधि अवरेखत।
> बाइबिरंग बहेरा हर्रे कहुँ बेल गोंद ब्यापारी।
> सूर स्याम लरिकाई भूली जोबन भयें मुरारी॥

इतिहासके विद्वान् पता लगावें कि सूरदास यूरोपियन व्यापारियों द्वारा आनीत मसालोंसे परिचित थे या नहीं!

उसने एक रूप धारण किया, गुजरातमें दूसरा और युक्तप्रान्तमें तीसरा। इसका कारण यह है कि मूल धारा जिस प्रदेशमें पहुँची वहाँकी सामाजिक परिस्थितिके अनुसार विशेष रूपमें परिवर्तित हो गई। इस प्रकार सूरदासमें वह धारा एक रूपमें दृष्ट हुई, तुकाराममें दूसरेमें। इसी समय पश्चिमके सूफी मतकी एक साधना-पद्धति भी इसी देशमें आई थी और वह इस देशके कबीर आदिमें एक स्वतन्त्र रूप धारण कर गई। कबीर और सूरदास आदिका साधना-प्रदेश करीब-करीब एक ही था। इन दोनों सन्तोंने दो मार्ग लिये। परन्तु दोनोंका ही आधार एक ही प्रकारकी सामाजिक परिस्थिति थी। इसलिए इन दोनों सन्तोंमें जो बातें एक ही सी हैं उनसे उस युगके समाजका चित्र स्पष्ट हो सकता है।

ऊपरके कथनको समझनेमें भूल हो सकती है। कहा जा सकता है सूरदास या कबीरदासकी साधनाका विशिष्ट रूप किसी सामाजिक परिस्थितिका परिणाम नहीं है, वह व्यक्तिगत चीज है और व्यक्ति विशेषकी शिक्षाका फल है। समाजसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं। परन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि ये लोग अपने आस-पासकी परिस्थितिसे प्रभावित हुए थे। सूरदासका भक्ति सिद्धान्त वल्लभाचार्यका उपदेशसम्भूत माना जा सकता है पर यह भी क्या सत्य नहीं है कि एक विशेष परिस्थितिने उन्हें वल्लभाचार्यकी ओर प्रवृत्त किया था? इस दृष्टिसे देखने पर जान पड़ता है कि उस युगके भारतीय समाजके सामने कोई बहुत ऊँचा आदर्श नहीं था। लोग खाते-पीते थे, रोगी या निरोग होते थे, सोते जागते थे और चार दिन तक हँसकर या रोकर मर जाते थे। जो धार्मिक प्रवृत्तिके थे वे दस-बीस मंदिर बनवा देते थे, यज्ञ-याग करके हजार पाँच सौ ब्राह्मणों और साधुओंको भोजन दिला देते थे। ऊँचे वर्गके लोग अपनी झूठी शानमें मस्त रहते थे। इनका प्रधान

कर्तव्य था,—जो उस युगमें धनी आदमीकी शोभा समझा जाता था, —विलासिता। कवि लोग इस विलासिताकी प्रशंसा करते थे, भाट लोग उनका यही यश गाते थे और समाजकी निचली श्रेणीके आदमी अपने रक्त तथा मांसको गला कर इनकी विलासिताकी आगको सदा प्रज्वलित रखनेके लिए ईंधन एकत्र कर देते थे। प्रत्येक गृह कलहका अखाडा था। क्योंकि सम्मिलित परिवार-प्रथा तब भी चल रही थी। उस समय जो जब तक कमा सकता था, चैन करता था। वृद्ध और शिथिलेन्द्रिय होनेपर उसीके लडके-वाले उसका निरादर करने लगते थे।

ऊपर हमने जो बातें कही हैं वे अनुमानसे ही कही गई हैं। इस अनुमानके लिए सूरदास और कबीरदासमें बहुत काफी मसाला है। हम उनके कथनोंको ज्यों-का-त्यों नहीं स्वीकार करना चाहते। कारण यह है कि वे समाजकी स्थिति स्पष्ट करनेके लिए कुछ नहीं कहते। उनके कहनेका प्रधान लक्ष्य या तो उसकी अस्थिरता दिखाकर वैराग्य-भावनाको उत्तेजित करना है या सुधारकी प्रवृत्तिका जगाना। दोनों ही उद्देश्योंको सामने रखकर समाजके केवल असत् अंशपर ही जोर दिया जा सकता है। भक्त और सन्त कवियोंने वस्तुत' वैसा ही किया है।

सूरदासने एक पदमें तात्कालिक मनुष्य-जीवनका एक पूरा चित्र खींचा है। है तो यह केवल उसकी विलासमय दिशाका, परन्तु अगर, सूरदासकी मनोभावनाका परिचय रखते हुए इसका उपयोग किया जाय तो उस समाजका कुछ अनुमान किया भी जा सकता है। इस पदमें माताके गर्भमें आनेसे लेकर मृत्यु तकका जो वर्णन किया गया है वह जीवनकी विफलताकी एक मनोरंजक कहानी है। नीचे वह पद दिया गया—

चौपरि जगत मढ़ जुग बीते।

गुन पाँसा क्रम अंक चार गति सारि न कबहूँ जीते।
निसि फर चार मनोरथ घर फिरि फेरि फेरि गुन आवै।
काम क्रोध मिलि लोभ सगमें खेलत हारि न पावै॥

मातु गर्भ थिति पाइ पिता दस मास उदरसे डारै।
जनम छठी छक औंर बधाई दुइ छक दुइ पुनि पारे।
मुंडन करनवेध व्रत-बंध विवाह गवन गृहवासी।
आलिंगन चुम्बन परिरंभन नखछन चारु परसपर हासी॥

केतकी करना बेलि चमली सुमन सुगंध सिंघाये।
रचहिं तल्प निधि भोग चतुर सम बहुत एकादस पाये।
उर-परसत सब अंग विलोकत क्रीड़त मुख सुख जीके।
चोली चीर अल्क भूषण फिरि साजत पिय मन नीके।

नख सिख साजि सिंगार सकल प्रिय सुन्दर बदन निहारत।
विविध विलास सकल कौतुक रस छ दस अंक भरि डारत।
जोबन-मद जन-मद मादक मद धन मद विष मद भारी।
जाम त्रिवम पर नारि भजत दुहू पच मरति फिरि मारी।
पौरि पगारि महल मन्दिर रचि राजत रंग अटारी।
भीतर भवन विचित्र विराजत पंच दुवादस द्वारी।
कृषी वणिज व्यवहार ग्रामपति हय बांधत दर हाथी।
करि अभिमान हरी सौं बमुख संग नहीं कोउ साथी।
रतन रजत कंचन मुकुता मनि मानिक संचित कामि-कमि।
छह मुनि गुना छट्टो रस विस्मरत कहत अठारह हँसि हँसि।
परिया तो पचमी दसमि कहुँ पोत टका नित कीन्हा।
पघा तीनि पंगे मींगी विधि विमनि भोजन दीन्हा।
स्वजन समधि परीवार दास-दासी जन सब हितकारी।
दाय भाव गनि देरि करत रनि पजा पारत न्यारी।

संध्या तिमिर द्वन्द्व दुविधा दुई ठोक निगम-पथ चालत।
स्रवन पुरान सिला तुलसीदल पूजित दुम्बितहिं पालत।
पंच बरष दस बरष और जुग छक खेल्हु खिलवारी।
सिसु गइ जीति किसोर काल हति मन काची करि हारी।
सुनि पौछक औरो छक पजा साजि सारि सब फोरयो।
तितने दाऐं बहुरि फिरि खेलौं सरण विरध जुग जोरयो।
आमावस पूनो सक्रान्ति ग्रहन द्विज कर मन मेलत।
एकादसी द्वादसी सजम कछू देत छक खेलत॥
मंगल बुध गुरु सुक्र भान ससि सान्ति करत ग्रह नीके।
राहु केतु चन्द्रमा सुसयुत छतन परत हित जीके।
सैन उठान अमर्द विना जन उपवासन तन साधे।
दुइ चौदसी जनम निसा सिव पाच चारि मन बाँधे।
द्वारावती गोमती पुष्कर तीर्थ प्रयाग अन्हाये।
गई न मनकी कठिन मलिनता कहा भयो भ्रमि आये।
बारह बन ब्रजके परिदक्षिण पच द्वादसे पेलत।
जप-तप सजम नेम धरम व्रत करि-करि कष्ट सकेलत॥
सुधि-बुधि सुमति सुरजि गई दसनिधि जूरा जुग विधि बाँधे।
धरत चरन निरल्रत लकुट ले चल्न नवल कइ कापत।
कास सफक कर तन गिरिधर धुक सदा बिछूरत मासत॥
सुत वनिता हित पाँचो नेहू नातो सब ही टूटे।
दाव कुदाव परे टुइ पचत जोरा दुइ जुग फूटे।
बालक तरुन विरध अधजर जर जिति सारी ढिग धारी।
सूर एक यों नाम बिना नर फिरि फिरि बाजी हारी।

सूरदासने मनुष्यकी इस विफलताका कारण भजनका अभाव बताया है। अगर भजन हो तो यह सारी विफलता, एक महती सफलताके रूपमें परिवर्तित हो जाय। सूरदासने वस्तुत: अपने कालकी सारी विला-

सिताका सुन्दर उपयोग किया है और कोई भी सहृदय इस बातको अस्वीकार नहीं करेगा कि सचमुच उन्होंने भजनके पारस पत्थरसे स्पर्श कराके विलासिता रूप कुधातुको सोना बना दिया है। उस युगके मनुष्यकी विफलताकी प्रथम सीढी है—"आलिंगन-चुंबन परिरंभन, नख छत चार परस्पर हाँसी।" और सूरदाससे अधिक किस कविने इनका सफल वर्णन किया है ?

अब हम टीकायुगकी प्रधान समस्याके साथ सूरदासका सम्बन्ध समझ सकते हैं। टीका-युगके पण्डित मनुष्यकी दुर्बलताको दबानेके लिए कठोरसे कठोर विधि-व्यवस्थाका आयोजन कर रहे थे, उन्होंने देखा, वे असफल रहे। टीका-युगके पण्डितोंमें एक बड़ी विशेषता यह थी कि वे हिन्दू जातिकी रक्षाके लिए कोई नया पथ नहीं चलाना चाहते थे। शास्त्रोंकी आड़में वे अपना मत प्रचार करना नहीं जानते थे। सूरदासने भी ऐसा नहीं किया। सूरदास चाहते तो आसानीसे कोई सम्प्रदाय खड़ा कर सकते थे। उनसे कहीं कम प्रभावशाली महात्माओंने अलग-अलग संप्रदाय निकाले। परन्तु सूरदासने ऐसा नहीं किया। महा पुरुषोंकी विशेषता यह है कि वे मनुष्यकी दुर्बलताओंको पहचानते हैं और इन्हीं दुर्बलताओंको, उसकी रक्षाके लिए उपयुक्त प्रहरी बना देते हैं। सूरदास ऐसे ही महापुरुष थे। वे अपने प्रयत्नमें सफल हुए।

ये दुर्बलताएँ हैं क्या चीज ? नरक-भय, दंड, अभिशाप आदिके नामपर, मानव-जातिके कल्याणकामी शास्त्रकारोंने—विधि-निषेधकी सीमाएँ निर्धारित कर दी हैं। परन्तु जिस प्रकार हवा बाँधनेसे नहीं रुकती उसी प्रकार मनुष्यकी प्रकृति भी बन्धनसे नहीं बँधती। एक तरफ बाँधनेसे वह दूसरी ओर निकल पड़ती है—भयानक वेगसे। यह

दूसरी ओर निकली हुई प्रवृत्तियाँ मनुष्यकी दुर्बलताएँ हैं। जिन दिनों टीका-युगके विद्वान् 'तथा हि' और 'अपि च'की धुआँधार वर्षाके साथ शास्त्रोंका आदेश मानव-समाजपर लाद रहे थे उन्हीं दिनों—

> जोबन मद जन मद मादक मद धन-मद विध-मद भारी।
> काम विवश पर-नारि भजत शुइ पचसरहिं फिरि मारी॥

सूरदास आदि सत कवियोंने इसी निरुद्धगामी प्रवृत्तिको भगवान्की ओर फेर दनेकी चेष्टा की और आश्चर्यजनक सफलता पाई। प्रमाण चाहते हों तो सूरदास यहाँ हैं, तुलसीदास यहाँ हैं, रसखानि यहाँ है, घनआनन्द यहाँ हैं, कितना गिनावें!

कवि-कुल गुरु रवीन्द्रनाथने 'सूरदादासेर प्रार्थना' नामक एक लंबी कविता लिखी है। दृश्य उस समयका है जब एक रमणीपर आसक्त हो चुकनेके बाद सूरदासको आत्म-ज्ञान हुआ था। हाथमें छुरी लेकर वे उस रमणीसे अपनी आँखोंको फोड़ देनेका अनुरोध कर रहे हैं। उसकी अंतिम पंक्तियोंमें वे कहते हैं—

"तो फिर वही हो देनि, विमुख न होओ, इसमें दोष ही क्या है? हृदयाकाशमें जगी रहने दो न, अपनी देह-हीन ज्योति! वासना-मलिन आँखोंका कलंक उसपर छाया नहीं डालेगा, अन्ध-हृदय चिर दिन तक नील-उत्पल पाता रहेगा।

"तुममें देखूँगा अपने देवताको, देखूँगा अपने हरिको, तुम्हारे आलोकमें जगा रहूँगा इस अनंत विभावरी (रात्रि) में।"

सचमुच सूरदासकी सहज साधनाने अपने लौकिक प्रेममें भगवान्की मूर्ति देखी है—शुद्ध, निर्मल, निष्कलंक। धन्य हो सूरदास, धन्य है तुम्हारी साधना। रवींद्रनाथके साथ ही हम भी पूछते हैं—

सत्य करे कहो मोरे हे वैष्णव कवि,
कोथा तुमि पेये छिले एइ प्रेमच्छवि ?
कोथा तुमि शिखेछिले एइ प्रेम-गान
बिरहतापित ? हेरि काहार नयान
राधिकार अश्रु आँखि पड़े छिलो मने ?
विजन वसन्त राते मिलन-शयने
के तोमारे बेंधे छिल दुटि बाहु डोरे,
आपनार हृदयेर अगाध सागरे
रेखेछिल मग्न करि ? एतो प्रेम-कथा,
राधिकार चित्त दीर्ण तीव्र व्याकुलता
चुरि करि लइयाछ कार मुख, कार
आँखि हते ? आज तार नाहि अधिकार
से सगीते ? तारि नारी हृदय संचित
तार भाषा हते तारे करिब वंचित
चिर दिन ?

' सच बताओ हे वैष्णव कवि, तुमने यह प्रेम चित्र कहाँ पाया था ? यह विरह-तप्त गान तुमने कहाँ सीखा था ? किसकी आँखें देख कर राधिकाकी आँसभरी आँखें याद आ गई थीं। निर्जन वसंत-रात्रिकी मिलन-शय्यापर किसने तुम्हें भुज पाशोंसे बाँध रखा था, और अपने हृदयके अगाध समुद्रमें मग्न कर रखा था। इतनी प्रेम-कथा, राधिकाकी चित्त विदीर्ण कर देनेवाली तीव्र व्याकुलता तुमने किसके मुँह और किसकी आँखोंसे चुरा ली थी ? आज क्या इस सगीतपर उसका (कुछ भी) अधिकार नहीं है ? क्या तुम उसीके नारी-हृदयकी संचित भाषासे उसीको सदाके लिए वंचित कर दोगे ?'

सूरदास आदि भक्त कवियोंने अपने लौकिक प्रेमका सर्वस्व भगवान्‌को समर्पित किया। जो लोग इस रहस्यको नहीं जानते कि

" हम जो चीज देवताको दे सकते हैं वही अपने प्रियको देते हैं—और प्रिय जनको जो दे सकते हैं वही देवताको देते हैं। और हम पायेंगे कहाँ ? देवताको हम प्रिय कर देते हैं प्रियको देवता।"—

*देवतारे याहा दिते पारि, दिइ ताइ
प्रिय जने, प्रिय जने याहा दिते पाइ
ताइ दिइ देवतारे, आर पाबो कोथा ?
देवतारे प्रिय करि, प्रियेरे देवता।

वे सूरदासकी कविताओंसे नाक-भौं सिकोड़ते हैं। उपाय क्या है ?

५ हिन्दी साहित्य और वैष्णव धर्म

मध्य युगमे भक्तिकी एक नई धारा भारतीय महाद्वीपके इस छोरसे उस छोर तक बह गई और देखते देखते इस विशाल देशको इस नये रूपमें बदल दिया। भाषा शास्त्रके प्रकाण्ड पंडित डॉक्टर ग्रियर्सन मध्ययुगके इस आन्दोलनके सबन्धमें कहते हैं—" बिजलीकी चमकके समान अचानक इस समस्त (अर्थात् पुराने धार्मिक मतोंके) अन्धकारके ऊपर एक नई बात दिखाई दी। कोई हिंदू नहीं जानता कि यह बात कहाँसे आई, कोई भी इसके प्रादुर्भावका काल निश्चित नहीं कर सकता, किंतु वे सभी शास्त्रीय ग्रन्थ जो इस (भक्ति) के सबधमें लिखे गये हैं, और जिनका काल निश्चयपूर्वक बताया जा सकता है, ईसाई सन् के बहुत बाद लिखे गये हैं।" इसीलिए डॉक्टर साहब इस नई बातका अनुभव कर सके हैं। आपका कहना है कि यह बात मद्रास प्रान्तमें आकर बस गये नेस्टोरियन सम्प्रदायके ईसाइयोंसे ग्रहण की गई है[१]।

---

* श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'वैष्णव कविता' नामक कवितासे।

१ ग्रियर्सन Modern Hinduism and its debt to the Nestorians, Journal of the Royal Asiatic Society (J R A S) Page 313, 1907

यही विद्वान् एक दूसरी जगह लिखते हैं—"कोई भी मनुष्य, जिसे पन्द्रहवीं और बादकी शताब्दियोंका भारतीय साहित्य पढनेका अवसर मिला है, उस भारी व्यवधान (Gap) को लक्ष्य किये बिना नहीं रह सकता जो प्राचीन और नई (धार्मिक, भावनाओंमें) विद्यमान है। हम अपनेको एक ऐसे धार्मिक आन्दोलनके सामने पाते है, जो उन सब आन्दोलनोंसे कहीं अधिक विशाल है, जिन्हें, भारतवर्षने कभी देखा है—यहाँ तक कि वह बौद्धधर्मके आन्दोलनसे भी अधिक विशाल है, क्योंकि इसका प्रभाव आज भी वर्तमान है। धर्म ज्ञानका विषय नहीं 'रस' (Emotion) का विषय हो गया था। इस समयसे हम साधना और प्रेमोल्लास (*Mysticism and rapture*) के देशमें आते है और ऐसी आत्माओंका साक्षात्कार करते हैं जो काशीके दिग्गज पंडितोंकी जातिकी नहीं हैं, बल्कि जिनका संबंध मध्ययुगके युरोपियन मरमी (Mystic) बर्नर्ड ऑफ क्लेयरवक्स (Bernerd of Clairvaux) थामस एकेम्पिस (Thomas a Kempis), एक्हर्ट (Ekhert), और सेंट थेरिसा (St. Theresa) से है[१]।" डॉक्टर ग्रियर्सनके इन दो उद्धरणोंसे यह बात स्पष्ट ही प्रकट हो जाती है कि भारतीय मध्ययुगका भक्ति आन्दोलन संसारके इतिहासमें बेजोड़ है। जैसा कि डॉक्टर साहबने बताया है इस युगका धर्म, ज्ञानका विषय नहीं, रसका विषय है। दूसरे शब्दोंमें हम कह सकते हैं कि इस युगके धर्म और कलाको अलग-अलग रख कर विचार नहीं किया जा सकता। क्या वास्तु शिल्प, क्या चित्र-कला, क्या काव्य, क्या नृत्य और क्या संगीत—सर्वत्र एक ही बात दिखाई देती है, और वह यह कि समस्त

---

१ ग्रियर्सन भक्तिमार्ग, एन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स वॉ० २, १५०९

भारतीय अन्तरीप एक सिरेसे दूसरे सिरे तक भक्ति—विशेष कर वैष्णव भक्ति-की शक्तिशाली तरगसे आक्रान्त हो उठा था। इस बातका महत्त्व तब और भी बढ जाता है जब हम देखते हैं कि इसी युगमें भारतवर्ष विदेशी धर्म और विजातीय सस्कृतिका करुणाजनक शिकार बना हुआ था।

ग्रियर्सनहीको नहीं, उनके पूर्ववर्ती अनेक पडितोंको भी यह सदेह हो चुका है कि भक्ति-आन्दोलन ईसाइयतकी देन हैं। वेबर और कासेनने भी यह सदेह किया था। डॉक्टर साहबकी शकाओंका समाधान हमने इसी पुस्तकमें अन्यत्र किया है। ग्रियर्सन साहबके सामने ही सस्कृत भाषाके प्रकाण्ड पडित श्रीयुत (अब डॉक्टर) कीथने उनकी प्राय समस्त युक्तियोंका खडन कर दिया थी। परन्तु जब हम मध्ययुगके उस रहस्यमय युगमें एकाएक भक्ति-आन्दोलनके प्रबल स्रोतका अनुमान करते हैं, तो इन विदेशी पडितोंके इस विश्वासको आश्चर्यजनक नहीं कह सकते कि भारतीय साधनामें भक्ति बाहरी उपादान है। उनका यह भ्रम स्वाभाविक है। असल बात यह है कि जिस प्रकार मनुष्यके दुर्बल और रोगाक्रान्त होने पर उसकी जीवनी शक्ति एकाएक प्रबल वेगसे जाग पडती है, ठीक उसी प्रकार भारतीय सस्कृतिके रोगाक्रान्त होने पर उसकी जीवनी शक्ति अर्थात् भक्ति-साधना, वेगके साथ जाग पडी थी। हम इस प्रश्नके ऊपर फिर विस्तृत विवेचन करेंगे।

१ इन सब बातोंकी विस्तृत आलोचनाके लिए निम्न लिखित कई प्रबन्ध द्रष्टव्य हैं—

(1) Modern Hinduism and its debt to the Nestorians (Grierson) (2) The Child Krishna, Christianity and the Gujars —(J R A S 1907)

(३) उक्त नामका प्रबन्ध A B Keith J R A S 1890

हिन्दी-साहित्यपर वैष्णव प्रभावका अध्ययन एक विशाल कार्य है। मध्य-युगका हिंदी-साहित्य कुछ थोड़ेसे अपवादोंको छोड़कर समस्त वैष्णव-साहित्य ही है। मिश्रबन्धुओंने जिन नौ महाकवियोंको हिन्दीका 'नवरत्न' माना है, जिनकी सख्या बादमें दस करनी पड़ी है, उनमेंसे सात तो नखसे सिख तक वैष्णव हैं। तीन—चन्द, कबीर और भूषण—और चाहे कुछ भी हों अवैष्णव नहीं हैं। मिश्रबन्धु विनोदके प्रथम दो भागोंमें जिन कवियोंकी चर्चा है, उनमें ८५ फी सदी पूरे वैष्णव हैं *। शेषमें बहुत ही कम अवैष्णव हैं। साहित्यकी धर्मके साथ इस प्रकारकी अद्भुत एकात्मता ससारके इतिहासमें विरल नहीं है। परन्तु कुछ ऐसी बाते हैं जिनके कारण वैष्णव-साहित्य और वैष्णव साधनाकी एकता ससारके इतिहासमे एक नई बात है। वह बात क्या है, यह समझनेके लिए हमें इस युग तकके साहित्यिक और धार्मिक विकासकी एक साधारण जानकारी आवश्यक है।

भारतीय नाट्य-शास्त्रके आरम्भमें ही एक ऐसी कथा आती है जो विद्वानोंको चक्करमें डाल देती है। इस कथाके अनुसार देवताओंकी प्रार्थनापर ब्रह्माने 'नाट्यवेद' नामक पाँचवें वेदकी रचना की थी। साधारणतया हिंदू आचार्य किसी नये शास्त्रकी नींव डालते समय उसका

* यह वर्गीकरण इस प्रकार है—

वैष्णव कवि ८४ ७९ प्रतिशत, सन्त (अर्थात् शास्त्रकी परवा किए बिना भक्ति करनेवाले) ३ ५९ मुसलमान २ ७१, जैन २ ७४, अन्यान्य ६ ११।

यह सूची अपूर्ण हो सकती है। क्योंकि कितने ही कवियोंके विषयमें ठीक ठीक नहीं जाना जा सका कि उनकी कविताका विषय क्या है। यह ध्यान देनेकी बात है कि मुसलमान कवियोंमेंसे अधिकांश वैष्णवभावापन्न हैं और जैनोंमें भी कुछ वैष्णव ढगके कवि हैं।

सबंध किसी न किसी प्रकार वेदोंसे जरूर स्थापित करते हैं। नाट्य-शास्त्रकी रचनाके समय भी यह बात अवश्य प्रस्तुत हुई होगी। परन्तु जब कोई सीधा संबंध मिलना असंभव हो गया होगा तब उक्त कथाके बलपर एक पाँचवें वेदकी कल्पना आवश्यक समझी गई होगी। मामला पेचीदा इस लिए हो जाता है कि वस्तुतः वेदोंमें ऐसे कथोपकथनोंकी कमी नहीं है जिन्हें आसानीके साथ नाटकोंका मूल रूप कह सकते थे, फिर नाट्य-वेदकी कल्पना शास्त्रकारने क्यों की? प्रभावशाली विचारके लगभग सभी यूरोपियन पंडितोंने इसपर अपनी अपनी रायें दी हैं[1]। फलतः 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' तो हो गई, परन्तु कोई उचित समाधान नहीं हो पाया।

हमारी समझमें इस मामलेका इतना पेचीदा हो जाना एक कल्पित किन्तु भ्रमात्मक सिद्धान्तको स्वीकार कर लेनेपर निर्भर है। यूरोपियन पंडित यह मानकर ही कलम उठाते हैं कि भारतवर्षमें जो कुछ है वह वेदोंसे ही शुरू होता है। हमें श्री मनमोहन घोषको यह मत ठीक जान पड़ता है कि नाटक इस देशमें आर्योंके आगमनके पूर्व ही वर्तमान थे। परन्तु उनमें पात्रोंकी बातचीत नहीं रहा करती थी, वे अभिनय प्रधान हुआ करते थे। इन अभिनयोंका काम था 'रसका' उद्रेक। आर्य-संसर्गके बाद अभिनयके साथ साथ कथोपकथन भी मिल गया। परन्तु नाटकका प्रधान उपकरण अभिनय रहता था और लक्ष्य 'रस-निष्पत्ति'[2]। प्राचीन संस्कृत-नाटकोंमें 'लज्जां नाटयति' 'वृक्षसेचनं नाटयति' आदि प्रयोग इस अनुमानकी पुष्टि करते हैं। कालिदासके

१—इन मतोंके लिए ए० बी० कीथका 'इण्डियन ड्रामा' देखिए।

२—अभिनय-दर्पणकी प्रस्तावना XVIII—XXVI

अभिज्ञान शाकुन्तलके प्रसिद्ध टीकाकार राघवभट्टने वृक्षसेचन, भ्रमर-बाधा-निवारण, आदि अभिनयोंकी भंगीका भी निर्देश किया है[1]।

रस नाटकका ही विषय था, इस बातका और भी स्पष्ट प्रमाण है आलंकारिकोंकी रस-सूत्रकी व्याख्या। वस्तुत मम्मटने जिन आलंकारिकोंका मत भारतीय नाट्यसूत्रके सिलसिलेमें उद्धृत किया है, वे सभी—लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनव गुप्त—नाट्य शास्त्रके ही व्याख्याता हैं और दर्शकके मनमें रसोद्रेककी बात ही कहते आये हैं। नाटकमें रसकी भाँति ही अलंकार स्फुट काव्यका विषय समझा जाता था। यह ध्यान देने योग्य बात है कि अलंकार-सम्प्रदायके प्राचीनतम आचार्यों—दण्डी और भामह—ने अलंकारको ही प्रधान माना है। रसकी चर्चा तो बहुत गौण है। उनकी पुस्तकोंसे यह अनुमान करना बिलकुल कठिन नहीं है कि वे रसको काव्य—अर्थात् स्फुट श्लोक—का विषय ही नहीं समझते।

आठवीं शताब्दीके आस-पास अलंकार शास्त्रमें ध्वनि-सम्प्रदाय जोर

१—देखिए, अभिज्ञान शाकुन्तलम्, राघवभट्टकी टीका (निर्णयसागर) वृक्षसेचन (पृ० २७) भ्रमरबाधा (पृ० ३४), शृंगाररचना (पृ० ८०), विषाद (पृ० ४९), मुखोन्नमनपरिहार (पृ० १०९), कुसुमावचय (पृ० ११८), प्रसाधन (पृ० १२९, १३२), गतिभंग (पृ० १३९), अवतरण (पृ० १८९), रथाधिरोहण (पृ० २२२)।

२ काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास।

३ इसीलिए रुय्यक अलंकारसर्वस्व (पृ० ७) में कहते हैं—"तदेवम् अलङ्कार एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्।"

पकड़ता दिखाई देता है[1]। ध्वनि या व्यंग्यको काव्यकी आत्मा मानकर और ध्वनिमें भी रस ध्वनिको सर्वोत्तम स्थान देकर इस सम्प्रदायने अलंकार-शास्त्रको अभिनव जीवन दिया और एक बड़ा कार्य यह किया कि रस और अलंकार दोनोंको नाटक और स्फुट काव्यमें समान रूपसे उपयोगी बताया। ध्वनि-सम्प्रदायने अलंकार-प्रधान काव्य को 'अवर' या अश्रेष्ट कोटिमें रखा। यद्यपि साहित्य-दर्पणकारने रसको काव्यकी आत्मा बताया परन्तु असल्में वे ध्वनिको ही काव्यात्मा समझते रहे। मुख्य बात तो यह है कि पन्द्रहवीं शताब्दी तक ध्वनिसम्प्रदायका ही बोल-बाला रहा। साहित्य-दर्पणमें शायद सबसे प्रथम इस शास्त्रमें नायिका-भेदका प्रवेश हुआ। यद्यपि ध्वनि सम्प्रदायके आचार्योंने 'रस' को काव्यका सर्वश्रेष्ठ उपादान मान लिया था परन्तु रसको इतना अधिक स्थान नहीं दिया गया कि उसमें नायिका भेद भी मिला दिया जाय। 'रस' रूपक विवेचनाका प्रधान विषय समझा जाता था और उसीमें नायिकाओंका वर्गीकरण भी सम्मिलित रहता था। यह

---

१ शब्दकी तीन शक्तियाँ होती हैं। (१) अभिधा अर्थात् कोशव्याकरण सम्मत शब्दका सांकेतिक अर्थ बतानेवाली शक्ति, (२) लक्षणा अर्थात् संकेतार्थसे सबद्ध अन्य लक्षित-अर्थको बतानेवाली शक्ति और (३) व्यंजना अर्थात् अभिधेय और लक्ष्यके अतिरिक्त उनसे संबद्ध या असबद्ध अन्य अर्थोंको व्यंग्य करनेवाली (Sugge tive) शक्ति। सर्व प्रथम ध्वन्यालोकमें व्यंग्य अर्थ (ध्वनि) की प्रधानताकी युक्तिपूर्वक प्रतिष्ठा की गई है। ध्वन्यालोककार आनंदवर्धन इस मतको वैय्याकरणोंके स्फोटवादसे उद्भूत बताते हैं। परन्तु 'स्फोट' से इसका संबंध केवल इसलिए बताया गया है कि इस मतको नवीन कहकर उड़ा न दिया जा सके। जो हो, इसमें कोई संदेह नहीं कि ध्वनिका जो सर्वांगपूर्ण विवेचन इस ग्रन्थमें किया गया है वह इस बातका प्रमाण है कि इसके बहुत पूर्व ही इस मतका अस्तित्व था। स्वयं आनंदवर्धन ही कहते हैं—

"काव्यस्यात्माध्वनिरिति बुधर्यः समाम्नातपूर्व" ध्वन्यालोक—१-१

ध्यान देनेकी बात है कि पन्द्रहवीं शताब्दीमें ही नायिकाभेद और और अलकार एक साथ विविक्त हुए। यह शताब्दी वस्तुत देशी भाषाओंके साहित्यकी उन्नतिकी शताब्दी है।

साहित्य-दर्पणके बाद एक ऐसे मतका प्रादुर्भाव दिखाई देता है जो रसके अतिरिक्त अन्य किसी बातको काव्य-विवेचनाका विषय समझता ही नहीं, या समझकर भी उसे गौण स्थान देता है। इसी तरह एक दूसरा संप्रदाय ऐसा दिखाई देता है जो अलकारके अतिरिक्त अन्य किसी विषयकी परवाह नहीं करता। कभी कभी ऐसा होता है कि एक ही आचार्य इन दोनों विषयोंपर अलग अलग ग्रन्थ लिखता है। परन्तु इस बातका अच्छा अध्ययन करना हो तो सस्कृतको छोड़कर देशी भाषाओंके उदीयमान साहित्यकी ओर देखना होगा। यहाँ वह अद्भुत बात दिखाई देती है जिसे हजारों वर्षके भारतीय इतिहासमें बेजोड़ कहा जा सकता है। संसारकी बात तो हम नहीं जानते,—वह बहुत बड़ा है—पर हमारी जानी हुई दुनियामें यह बात अद्वितीय है। यहाँ हम देखते हैं कि रस— विशेषकर रसोंके राजा शृगारके—आलम्बनों और उद्दीपनोंका वर्गीकरण हो रहा है और उनके उदाहरणोंके बहाने भगवान्‌की लीला गाई जा रही है। " आगेके सुकवि रीझि हैं तौ कविताई न तौ राधिका-गुविन्द सुमिरनको बहानो है।" अर्थात् कविता करनेके बहाने परम आराध्यका भजन या परम आराध्य भजनके बहाने कविता! ललित कलाके सुकुमार प्राण 'रस'के साथ धार्मिक और दार्शनिक साधनाके परम लक्ष्यका इस प्रकार एकीकरण अन्यत्र दुर्लभ है। इस युगकी देशी भाषाओंके साहित्यका संसारकी साहित्यिक साधनामें यही महान् दान (Contribution) है।

बगालमें सर्वप्रथम रूपगोस्वामीने 'उज्ज्वल नीलमणि' नामक सस्कृत ग्रन्थमें इस प्रकारसे रसका विवेचन किया। रूपगोस्वामी चैतन्य महाप्रभुके भक्तोंमेंसे थे। इनका समय पन्द्रहवीं शताब्दीका अन्त और सोलहवीं शताब्दीका प्रारम्भ था। यही पुस्तक सस्कृतमें प्रथम बार भक्ति और अलकार शास्त्रको एक रूप देकर लिखी गई। इसके बहुत पहले जयदेव, विद्यापति और चण्डीदासने क्रमश सस्कृत, मैथिली और बगलामें राधा-कृष्णकी लीलाओंका गान किया। परन्तु रसशास्त्रके नामपर नायक-नायिकाओंका प्रथम वर्गीकरण यही था जिसमें उदाहरणके लिए राधा-माधवकी लीलाओंका वर्णन रखा गया। इस ग्रथमें उज्ज्वल या मधुर रसको जिसे ग्रन्थकार भक्ति-रस भी कहता है (मधुराख्यो भक्तिरस' १—३) मनुष्यका परम प्राप्तव्य बताया गया है। मधुर रसके आलबन श्रीकृष्ण ही हो सकते हैं, दूसरा नहीं। गौडीय वैष्णवोंके मतमें पाँच रस होते हैं—शान्त, हास्य या प्रीति, सख्य या प्रेम, वात्सल्य और माधुर्य। इसी माधुर्यको उज्ज्वलरस कहते है। इसे ग्रन्थकार 'भक्ति-रस-रा ' या भक्ति-रसोंका राजा बताता है। इसके बाद बगालमें नायिकाओं और नायकोंके वर्गीकरणके अनुसार पद लिखनेकी चाल-सी चल पड़ी। परन्तु इस प्रकारकी रस-व्याख्यासे ही यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सम्प्रदायका मुख्य विषय कविता नहीं, भक्ति था। हिन्दीमें जो रस-ग्रन्थ लिखे गये उनमें भक्ति और कवित्व समान भावसे गुँथे हुए थे। कहीं कहीं तो कवित्व ही प्रधान है, भक्ति गौण। हम यहाँ सूरदास, तुलसीदास जैसे कवियोंकी बात नहीं कर रहे हैं, केशव, मतिराम और देव जैसे रस-ग्रन्थकारोंकी बात कर रहे हैं।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि जिन दिनों उज्ज्वल नीलमणिकी

रचना हुई उसके कुछ पहले ही हिन्दीमें इस प्रकारके ग्रन्थ उपलब्ध थे। उज्ज्वल नीलमणिने भक्ति-रसकी जो सर्वाङ्ग-पूर्ण व्याख्या की है,—वह सर्वांशमें नहीं, तो अधिकांशमें नवीन है। ऐसा एकाएक नहीं हो सकता। इसके पूर्व इसकी पर्याप्त चर्चा रही होगी। इसी तरह हिंदीके जिस ग्रन्थकी हम चर्चा करने जा रहे हैं, वह पहला प्रयत्न नहीं जान पड़ता। साधारण धारणा यह है कि केशवदास ही हिन्दीके प्रथम रसाचार्य हैं। परन्तु बात असलमें यह नहीं है। कृपाराम नामक एक अन्य कविने सन् १५४१ ई० में ही रसपर एक सुन्दर ग्रन्थ लिखा था। इस ग्रन्थका नाम 'हिततरंगिणी' है। "इसमें रसोंका विषय बहुत ही विस्तारपूर्वक और मनोहर छन्दों द्वारा कहा गया है। इस कविकी भाषा सुष्ठु ब्रजभाषा है। इन्होंने लिखा है कि अन्य कवि बड़े छन्दोंमें शृंगार रसका वर्णन करते हैं, परन्तु मैंने दोहामें इस लिए लिखा है कि उसमें थोड़े ही अक्षरोंमें बहुत अर्थ आ जाता है[1]। इस कथनसे प्रकट होता है कि उस समय बहुतसे कवि थे, परन्तु दुर्भाग्यवश उनके ग्रन्थ अब नहीं मिलते[2]।" इसी ग्रन्थमें पहले पहल राधा-कृष्णकी प्रेम-लीलाको उदाहरण रूपमें लिखत पाया जाता है—

---

१ बरनत कवि सिंगार रस, छन्द बड़े बिस्तार।
मैं बरन्यो दोहानि बिच, याते सुघर बिचार।

२ मिश्रबन्धु विनोद, पृ० २७६ (तृतीय संस्करण, लखनऊ १९८६ वि०)

३ कृपारामके अतिरिक्त गोप (१६१५) करनेस, और मोहनलाल मिश्रने रीति ग्रन्थ लिखे थे। ये तीनों ही केशवदासके पूर्ववर्ती थे। (देखो प० रामचन्द्र शुक्लकी हिन्दी-शब्दसागरकी भूमिका पृ० १२१ २२) परन्तु हम नहीं जानते कि इन्होंने अपने ग्रन्थोंमें राधा-माधवकी लीलाओंको उद्धृत किया है या नहीं।

आजु सकारे हौं गइ, नन्दलाल हित ताल।
कुमुद कुमुदिनीके भट्ट, निरखे औरै हाल॥

यहाँ यह कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं कि हिंदीमें राधा-माधवकी प्रेम-गाथाओंका प्रचार भक्त कवियोंके कण्ठसे इसके बहुत पहले हो चुका था। इस श्रेणीके कवि भक्तिके आवेशमें ही कविता, (गान कहना अधिक ठीक होगा) लिखा करते थे परन्तु कृपारामकी श्रेणीके आचार्य कबिता करने बैठते थे और उसपर भक्तिका पुट डाल देते थे। यह बात ध्यान देनेकी है कि इस श्रेणीके आचार्योंका वर्गीकरण गौडीय वैष्णवोंकी श्रेणीका नहीं है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि यह प्रभाव गौडीय वैष्णवोंका है। फिर यह बात हिन्दीमें आई कहाँसे? एक बात ध्यान देनेकी है, वह यह कि पन्द्रहवीं शताब्दीके पहले यह धारा हिन्दी-साहित्यमें एकदम अपरिचित है। रसाचार्योंकी बात छोड भी दी जाय तो भी भक्त कवियोंके गान भी, पन्द्रहवीं शताब्दीके पहले दृष्टिगोचर नहीं होते।

एक ओर तो इन कवियों और रसाचार्योंपर गौडीय प्रभावका कोई चिह्न नहीं दिखाई देता, दूसरी ओर इस प्रकारके प्रेम-गानोंके सभी पुराने रचयिता—जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास हिन्दीके किसी भी वैष्णव कविसे पूर्ववर्ती और पूर्वी प्रदेशके ठहरते हैं। राधा-कृष्णकी शृंगार-लीलाका अगर कोई सीधा सम्बन्ध कहींसे मिलता है तो इन्हीं पूर्ववर्ती भक्तोंसे। महाप्रभु चैतन्यदेव, जो जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास इन तीनों कवियोंके काव्य-रसिक थे, वृन्दावन आये थे और उन्होंने ही इसे नया रूप दिया था। उनके अनेक शिष्य वहाँ आजीवनके लिए रह गये थे और उस सम्प्रदायके कितने ही भक्त परवर्ती हिन्दी-साहित्यके प्रसिद्ध कवि भी हुए। इस प्रकार पूर्वी प्रदेशोंसे इस

धाराका साक्षात् सम्बन्ध भी दिखाई देता है। इन दो परस्पर विरोधी बातोंका समाधान क्या है?

यूरोपियन पंडितोंका रास्ता सीधा है। वैष्णव भक्त भी भगवान्को 'पतित-पावन' कहते हैं, 'करुणासिंधु' कहते हैं, और ईसाई भक्त भी ऐसा ही कहते हैं। इसीलिए भक्ति ईसाइयतकी देन है। कुछ कहते हैं, यह मद्रासमें बसे हुए नेस्टोरियन ईसाइयोंकी देन है[1]। कुछ कहते हैं, बैक्ट्रिया या इसिकुल ह्रदसे आई है[2] और कुछ कहते हैं यह सूफियों[3] की मध्यस्थतामें आई है। ऐसे लोगोंकी दृष्टिमें संसारमें जो कुछ अच्छा है वह यूरोप और ईसाई धर्ममें ही है, इसलिए हिन्दुओंने भक्तिको भी निश्चय ही वहींसे उधार लिया होगा। "खुल जाओ सुमसुम" और लो, वह दरवाजा खुल गया।

इस स्थानपर यह कह देना उचित होगा कि हिन्दी-साहित्यमें भक्ति-धाराको बहानेका श्रेय निश्चय ही दो प्रसिद्ध आचार्योंको प्राप्त है। राम-भक्तिकी धाराके प्रवर्तक आचार्य रामानद हैं। इस धाराको दो भागोंमें विभक्त पाया जाता है। प्रथममें वे संत हैं जो शास्त्रों और रूढियोंके कायल नहीं हैं। इन्हें निर्गुणवादी भक्त भी कह सकते हैं। कबीर, दादू, नानक, रैदास आदि भक्त इसी श्रेणीके हैं। दूसरी श्रेणीमें तुल्सीदास जैसे महात्मा हैं जो भक्तिवाद और शास्त्रोंके सामजस्यके अनुसार साधन-मार्गका निर्देश करते हैं। कृष्ण भक्तिकी धाराके प्रधान प्रवर्तक महाप्रभु वल्लभाचार्य हैं। परन्तु केवल इतना कह देनेसे

---

१ Modern Hinduism and its dept to the Nestorians (I R S 1907)

२ ३ Krishna, Christianity and Gujar (J R A S 1908)

हम संतुष्ट नहीं हो सकते। कोई भी मत-वाद जब किसी नवीन भूमिमें प्रवेश करता है तो वहाँकी रीति-नीति, आचार विचारसे, मिलकर एक नया रूप धारण करता है। महाराष्ट्रकी भक्ति दूसरी चीज है, उत्तर प्रदेशकी दूसरी और बंगालकी कुछ और। इनके मूल सिद्धान्त एक ही हो सकते हैं परन्तु इनके आकार-प्रकार सर्वथा अलग हैं। रामानन्द-प्रवर्तित रामधारा कबीरमें एक रूप धारण करती है और तुलसीदासमें दूसरा। जब व्यक्ति विशेषके कारण साधनाका रूप बदल सकता है, तो देश-विशेषके साथ क्यों नहीं बदलेगा? जो लोग कुछ दाक्षिणात्य आचार्योंके दार्शनिक और धार्मिक मतोंका अध्ययन करके ही तुलसीदास और सूरदासके रहस्योंका उद्घाटन करते हैं, वे लोकमतके साथ अविचार करते हैं। जिस भक्ति-साधनाने देव, मतिराम और पद्माकरको पैदा किया, वह किसी आचार्यकी ही साधना नहीं थी। आचार्य-विशेषकी दीक्षा तो उसपर केवल रंग चढा गई, मूल कङ्काल कुछ और ही था।

हमारा विश्वास है कि ग्यारहवींसे पन्द्रहवीं शताब्दी तक उत्तर भारतके जन-साधारणमें एक साधना विकसित होती जा रही थी। पन्द्रहवीं शताब्दीमें वह एकाएक फूट उठी। ग्रियर्सन साहबका यह कहना बिल्कुल ठीक है कि "अचानक बिजलीके समान यह बात भारतीय अन्तरीपके इस छोरसे उस छोर तक चमक गई।" परन्तु इसके लिए चार सौ वर्षसे मेघ पुंजीभूत हो रहे थे। और केवल बिजली ही नहीं चमकी, पन्द्रहवीं शताब्दीमें भक्तिकी जो वर्षा आरम्भ हुई, वह चार सौ वर्ष तक बरसती ही रही—जरा भी नहीं रुकी।

इन चार शताब्दियोंमें जन-साधारण क्या सोच रहा था यह जाननेके पहले भक्ति आन्दोलनकी कुछ मुख्य बातोंको ध्यानमें रखना होगा। ये बातें इस प्रकार हैं—

(१) प्रेम ही परम पुरुषार्थ है, मोक्ष नहीं—प्रेमा पुमर्थो महान् ।
(२) भगवान्‌के प्रति प्रेम कौलीन्यसे बड़ी चीज है ।
(३) भक्त भगवान्‌से भी बड़ा है ।
(४) भक्तिके बिना शास्त्र-ज्ञान और पांडित्य व्यर्थ हैं ।
(५) नाम रूपसे भी बढ कर है ।

संक्षेपमें कहा जा सकता है कि यह मत ब्राह्मण-धर्मका विरोधी तो नहीं था, परन्तु उसका संपूर्ण अनुगामी भी नहीं था । महायान-मतसे इसका अन्तर यही था कि वह ब्राह्मण धर्मका पूर्ण विरोधी था और यह उसका अंग होकर भी स्वाधीन था ।

इन चार शताब्दियोंमें भारतीय धर्म-मतकी क्या अवस्था थी, यह बात हिन्दू धर्मके संस्कृत-ग्रन्थोंसे बहुत कम समझ पड़ती है । जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, संस्कृत-ग्रन्थोंकी दृष्टिसे यह युग टीका-युग कहा जा सकता है । कोई अच्छा ग्रन्थ अगर इस जमानेमें लिखा गया तो वह टीकाएँ ही थीं । धर्मशास्त्रोंमें व्यवस्था-मूलक अनेक ग्रन्थ लिखे गये जो निश्चय ही टीका श्रेणीमें आते हैं । इन टीकाओं और निबंधोंसे उस युगकी भयानक सतर्कताका अनुमान सहज ही किया जा सकता है । जान पड़ता है शास्त्रीय आदेशोंके पालनमें ज्यों-ज्यों शिथिलता आती जा रही थी त्यों-त्यों ब्राह्मण आचार्य अधिक सतर्क भाव ग्रहण करते जा रहे थे । इन अनुपस्थिति-मूलक (Negative) प्रमाणोंके बलपर यही अनुमान होता है कि शास्त्रोंकी व्यवस्थाओंसे लोकमत बेपरवाह होता जा रहा था । उस युगके ग्राम-गीत और प्रवाद यदि उपलब्ध होते तो हम यह आसानीसे जान सकते कि जन साधारणका मन उस समय क्या था । परन्तु अभी तक, दुर्भाग्यवश इस दिशामें कुछ संतोषजनक कार्य नहीं हुआ है ।

जो हो, हिंदी-साहित्यकी शैशवावस्थामें ही हमें एक महात्माके दर्शन होते हैं जो एक विशेष धर्ममतके अन्यतम प्रतिष्ठाता हैं। ये हैं गोरखनाथ। आप नाथ सम्प्रदायके आचार्य थे। यह सम्प्रदाय महायान बौद्ध धर्मका उत्तराधिकारी था। तंत्र और योगकी क्रियाएँ इस मतके प्रधान अंग हैं। कबीरदासपर गोरखनाथकी निर्गुण साधनाका प्रभाव स्पष्ट ही लक्षित होता है। हिंदी-साहित्यके निर्गुण अंगपर इस सम्प्रदायका पर्याप्त प्रभाव है। परन्तु हम आज उस दिशाकी ओर अग्रसर होना नहीं चाहते। गोरखनाथका उल्लेख हमने इसलिए किया कि उनका हिंदीके शैशव-कालमें दिखाई देना एक विशेष अर्थ रखता है। नाथ सम्प्रदायका सीधा सम्बन्ध महायान बौद्ध-धर्मसे है। यह सम्प्रदाय बंगालसे लेकर उत्तर प्रदेश तक बहुत प्रभावशाली हो गया था। हिन्दी साहित्यके गोरखनाथ एक ओर उस युगकी हिन्दीभाषी जनताका संबंध महायान बौद्धोंसे जोड़ते हैं और दूसरी ओर बंगालसे भी सीधा सम्बन्ध स्थापित करते हैं। यहाँ हम उस युगके समाजका सम्बन्ध देश और कालसे स्थापित होते देखते हैं। सच पूछिए तो उत्तरकालीन वैष्णव धर्म मतपर महायान बौद्ध धर्मका प्रभाव बहुत अधिक है। जिस प्रकार पुत्रका संबंध पिताकी अपेक्षा मातासे अधिक रहता है और जिस प्रकार माताके रक्त-मांसका अधिक भागधेय होकर भी पुत्र पिताके नामसे ही प्रसिद्ध होता है, वैसे ही हिन्दी वैष्णव धर्मका सम्बन्ध महायानसे अधिक होते हुए भी यह वल्लभाचार्यके नामसे ही पुकारा गया।

महायान बौद्ध धर्मकी शाखा आचार्योंकी दृष्टिमें कितनी भी शून्यवादी क्यों न रही हो, उस धर्मके अनुयायी अधिकांश जन-साधारणमें सैकड़ों देव-देवियोंकी पूजा चल पड़ी थी। उनके देव-देवियों—प्रज्ञापारमिता, अवलोकितेश्वर, मञ्जुश्री—की मूर्तियाँ बहुत कुछ वासुदेव और लक्ष्मीकी

मूर्तियोंके समान हैं[1]। प्रसिद्ध डॉक्टर कर्नने बताया है कि वैष्णव भक्ति-वाद इन महायानोंकी भक्तिका ही विकसित रूप है[2]। यहाँ तक कि नाम-सकीर्तन भी जिसे ग्रियर्सन साहबे ईसाई धर्मका प्रभाव बताते हैं, महायान धर्मवालोंकी चीज है। आचार्य क्षितिमोहन सेनने चीन और भारतके सकीर्तनोंका साम्य देखकर यह निष्कर्ष निकाला है कि महायान-मत ही सकीर्तन-प्रथाका मूल उत्स है। बगालके इतिहाससे यह बात अलग नहीं की जा सकती कि बौद्ध धर्मके ह्रास होते ही महायान-मतके नाना पथ वैष्णवोंमें शामिल हो गये। इस प्रकार आउल-बाउल आदि अनेक सहजिया पथ जिनकी साधना प्रेम-मूलक थी और जो परकीया-प्रेमको सहज-साधनाका प्रधान उपाय समझते थे, सोलहवीं शताब्दीमें नित्यानदके वैष्णव झडेके नीचे एकत्र हुए। इन्हीं नित्यानदको महाप्रभु चैतन्यने अपने सप्रदायमें निमत्रित किया और यहींसे गौडीय वैष्णव धर्मने अभिनव रूप धारण किया। यह धर्ममत समस्त बगाल, उड़ीसामें तथा अशत आसाममें पहुँचा। उड़ीसाके धर्माचार्योंमें चैतन्य और नागार्जुन दोनोंके मतोंके समन्वयसे एक विशाल वैष्णव-बौद्ध साहित्य निर्मित हुआ।

नित्यानंदके साथ जो शक्ति चैतन्य सप्रदायमें प्रविष्ट हुई वह नई नहीं थी। उसके पीछे भी तीन चार सौ वर्षका इतिहास था। सौभाग्य-

---

1 D C Sen, Bengali Language and Literature Page 401 ff

2 Kern, Manual of Buddhism P 124

3 Grierson, Modern Hinduism and Nestorians J R A S 1907

4 D C Sen, Bengali Language and Literature Page 403

वश बगाल और उड़ीसामें इस प्रकारकी कुछ पुस्तकें और लोक-गीत उपलब्ध हुए हैं जिनसे उस अधतिमिरावृत युगकी धार्मिक साधनापर प्रकाश पड़ता है। श्री दिनेशचन्द्र सेन महाशयकी धारणा है कि बारहवींसे चौदहवीं शताब्दी तक बगाल और उड़ीसामें एक अत्यन्त शोचनीय नतिक दुर्गतिका आविर्भाव हुआ था। उस युगके ताम्रशासनोंपर हर-पार्वतीकी बदनामें उनका हाव-भाव तथा परस्पर आलिंगन आदिका रुचिगर्हित वर्णन पाया जाता है। पुरी और कोणार्कके मन्दिरोंपर अश्लील चित्र अकित हैं। बगीय साहित्य-परिषद्में उस युगकी बनी हर-पार्वतीकी एक वीभत्स प्रस्तर मूर्ति रखी है। इन प्रमाणोंके बलपर यह समझना कठिन नहीं है कि उस युगकी रुचि किस ओर थी। वैष्णव भक्तोंमें जयदेवने सर्व प्रथम पुरीके मदिरमें उस रुचि-गर्हित विलास-प्रथाको आधार मानकर प्रेम-गान लिखे। ये गान विशुद्ध प्रेमके आवेशमें ही लिखे गये थे, परन्तु कवि अपने युगकी सामाजिक रुचिसे बँधा था। परम्परासे तो जयदेव परकीया भावके साधक ही समझे जाते हैं, परन्तु गीतगोविंदमें इसका कोई प्रमाण नहीं है। हम आगे चलकर देखेंगे कि व्रजभाषाके कवियोंपर जयदेवका प्रभाव था।

एक दूसरा और नया प्रमाण आविष्कृत हुआ है जिससे वैष्णव कवियोंकी प्रेम-साधनाका रहस्य प्रकट होता है। रगपुर, दिनाजपुर आदि उत्तर-बगके जिलोंमें, जो हिमालयकी तलहटीमें बसे हुए है, बारहवीं तेरहवीं शताब्दीके कुछ प्रचलित गीत पाये गये हैं। ये गान दो तरहके होते हैं, असल धमाली और शुक्ल धमाली। असल धमाली गान इतने अश्लील होते हैं कि वे गाँवोंके बाहर ही गाये जाते हैं। इन्हें कृष्ण धमाली भी कह सकते हैं। "यह कृष्ण धमाली गाने ही किसी समय

१ दीनेशचन्द्र सेन, बग भाषा और साहित्य, पृ० १९५ १९६

वग देशके जनसाधारणकी राधा-कृष्णकी प्रेम-कथा सुननेकी तृषा मिटा देते थे। इसमें कोई सदेह नहीं कि प्राचीन राजवशी जाति और योगी जातिके लोग आज तक वगालके नाना स्थानोंमें इसकी यत्नपूर्वक रक्षा करते आये हैं[1]।" शुक्ल धमालीको सशोधन करनेके लिए सुप्रसिद्ध वैष्णव कवि चडीदासने 'कृष्ण-कीर्तन' नामक ग्रन्थ लिखा था। यह सशोधित सस्करण भी कम अश्लील नहीं है, इसीसे दीनेश बाबू अनुमान करना चाहते हैं कि यह कृष्ण-धमाली कितनी गर्हित रही होगी। इस पुस्तकके अनुसंधानसे हमें यह अनुमान करना सहज हो जाता है कि किस परिस्थितिमें वैष्णव प्रेमको शृगारिक रूप धारण करना पड़ा था।

गोरखनाथके प्रसंगमें हम उस युगके पूर्वीय अंचलमें उत्तर भारतके योगका उल्लेख कर चुके हैं। यह बात और भी मनोरजक है कि इन पूर्वीय वैष्णवोंके प्रेम-गानोंका प्रभाव व्रजभाषाके शैशव-कालमें ही पड़ा। केवल नाभादास या गुरु नानकने जयदेवका नाम लिया हो, सो बात नहीं, सूरदासके भजनोंमें जयदेवके पदोंका अनुवाद भी है[2]। पडित रामचद्र शुक्लने ठीक ही कहा है कि "सूर-सागर किसी चली आती हुई गीत-काव्य-परम्पराका चाहे वह मौखिक ही रही हो पूर्ण विकास-सा प्रतीत होता है।" अर्थात् सूरदासके बहुत पहले ही (और इसीलिए वल्लभाचार्यके भी बहुत पहले) वैष्णव प्रेम-धाराने इस प्रदेशमें अपनी जड़ जमा ली थी। यहाँ यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि बारहवींसे लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक जिस प्रकारका बौद्ध तत्रवाद बगाल और उड़ीसाके पूर्वी प्रान्तोंमें प्रबल रहा, वैसा इस प्रदेशमें

१ वही, पृ० १६६

२ जयदेव और सूरदासके इन पदोंकी तुलना कीजिए—

मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुव श्यामास्तमालद्रुमै

र्नक्त भीरुरयं त्वमेव तदिदं राधे गृहं प्रापय।

नहीं था। मध्य-युगमें बंगालका प्रान्त तन्त्रका अखाड़ा समझा जाता था। परन्तु वैष्णव प्रेम-वादमें कुछ ऐसा रस था जो अवैष्णवोंको भी आकृष्ट करता रहा। इसके सबसे ज्वलंत उदाहरण हैं विद्यापति। आप स्वयं शैव थे परन्तु प्रेम साधनकी ओर इतने आकृष्ट हुए कि शायद ही कोई वैष्णवकवि बंगालमें इतने दिनों तक इतना समादृत रहा हो।

बंगालके बाहरका प्रान्त इस प्रेमसे प्रभावित तो हुआ था, पर वह प्रभाव केवल आईडियाका प्रभाव था* । वास्तवमें बंगालकी भूमिमें

इत्थं नंदनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुञ्जद्रुमं
राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलयः ॥ —जयदेव

गगन घहराइ जुरी घटा कारी ।
पौन झकझोर चपला चमकि चहुँ ओर
सुवन तन चितै नँद डरत भारी ॥
कह्यो वृषभानुकी कुवँरि सों बोलि कै
राधिका कान्ह घर लिये जा री ॥
दोउ घर जाहु संग नभ भयो स्याम रँग
कुँवरकर गह्यो वृषभानु बारी ।
गये बन ओर नवल नंदकिसोर
नवल राधा नये कुंज भारी ।
अंग पुलकित भये मदन तिन तन जये
सूर प्रभु स्याम स्यामा विहारी ॥

—सूरसागर १३०२

* यह संदेह करनेकी बात नहीं है कि मध्य युगमें यह बात फैलकर कैसे इतनी दूर तक आ सकी थी। जायसीके पद्मावतकी रचनाके सौ वर्षके भीतर ही उसका बंगला अनुवाद हो गया था। यह अनुवाद आराकानके एक मुसल्मान बादशाहने करवाया था। दादूके जीवनकालमें ही उनका प्रभाव बंगालमें फैल गया था। श्री क्षितिमोहन सेनने बंगालके बाउलोंके गान सुनकर ही पहले-पहल

परकीया भावको ऊँचा रूप देनेका उपकरण पहलेसे ही वर्तमान था, व्रजभाषा प्रान्तोंमें यह बात नहीं थी। अर्थात् राधा और कृष्णसम्बन्धी प्रेमके गान तो इस प्रदेशमें चल पड़े, परन्तु राधा कृष्णकी रानी ही समझी गई। सूरदासने राधा और कृष्णका विवाह बड़ी धूमधामसे कराया है। महाप्रभु वल्लभाचार्यने इस आन्दोलनको और जोर दे दिया।

अब हम अलंकार-सम्प्रदायकी बातोंपर विचार करेंगे। बंगालमें चैतन्य-युगके बाद ही वैष्णव अलंकारिकोंका विकास हुआ है। हम अन्यत्र लिख चुके हैं कि इन अलंकारिकोंका कोई भी प्रभाव हिन्दी-अलंकारिकोंपर नहीं पड़ा। सच पूछा जाय तो 'रस-ग्रन्थों'की रचना हिन्दीमें पहले ही होने लगी थी। व्रजभाषामें गोपियों और कृष्णकी नाना लीलाओंका वर्णन पहलेसे ही होता आ रहा था। हिन्दी-रसाचार्योंने उदाहरणके लिए इन लीलाओंको ठीक उसी तरह उद्धृत किया जिस प्रकार मम्मट आदिने कालिदासके शिव-पार्वती-परिणय सम्बन्धी श्लोकोंको उद्धृत किया था। एक नवीनता यह आ गई कि मम्मट आदि अन्य कवियोंकी रचना उद्धृत करते थे। पर ये अपनी ही रचना उद्धृत करने लगे। विश्वनाथ कुछ दूर तक इस प्रथाके लिए उत्तरदायी हो सकते हैं। बादमें वर्गीकरण करके कविता करना एक सरल उपाय समझा गया और

समझा कि दादू जन्मके मुसलमान थे और उनका नाम दाऊद था। चैतन्य देवके अनन्तर ही गौड़ीय वैष्णव धर्म राजस्थान तक फैल गया। मीराबाईके जीवन-कालमें ही उनके गान पूर्वीय प्रान्तोंमें गाये जाने लगे थे। बंगालके गोपीचन्द्रके गान सौ बरसके भीतर ही भीतर सुदूर पंजाबतक गाया जाने लगा था और अब भी गाया जाता है। इन बातोंके लिए श्री क्षितिमोहन सेनका "मध्य-युगमें राजस्थान और बंगालका आध्यात्मिक सम्बन्ध" (गौ० ही० ओझा अभिनन्दन ग्रन्थ) देखिए।

हिन्दीमें रस-ग्रन्थोंकी बाढ आ गई। हमारा खयाल है कि पंडितराज जगन्नाथ इस बातमें ब्रजभाषावालोंसे प्रभावित हुए थे।

ऊपर हमने जो कुछ कहा है उसका सारांश यह है कि वैष्णव धर्म शास्त्रीय धर्मकी अपेक्षा लोक-धर्म अधिक है। हिन्दी-साहित्यके लोक-गीतोंमें इसका प्रवेश वल्लभाचार्यके बहुत पहले हो गया था। इन्हीं गीतोंका विकसित और सुसंस्कृत रूप सूरसागरके अन्तर्गत विद्यमान् है। अन्य सभी अशास्त्रीय या लोकधर्मों—बौद्ध, जैन यहाँ तक कि उपनिषदोंके धर्मकी भाँति इसकी जन्मभूमि भी बिहार, बंगाल और उड़ीसाके प्रांत हैं। वल्लभाचार्य या चैतन्य देव प्रभृतिने इस लोक-धर्मको शास्त्रसम्मत रूप दिया। ज्यों ही उसने एक बार शास्त्रका सहारा पाया त्यों ही विद्युतकी भाँति इस छोरसे उस छोर तक फैल गया क्योंकि असलमें उसके लिए क्षेत्र बहुत पहलेसे ही तैयार था। जब शास्त्र-सम्मत होकर इसने अपना पूरा प्रभाव विस्तार किया तो अलंकारिकों और रसचार्योंने भी उसको अपने शास्त्रका आलंबन बनाया। असलमें यह कहीं बाहरसे आई हुई चीज नहीं है। भारतीय साधनाकी जीवनी शक्तिके रूपमें यह धारा नाना रूपोंमें प्रकट हुई थी। मध्ययुगके वैष्णव धर्मने इसे जो रूप दिया वह महायान भक्तिका विकसित और मार्जित रूप था। इस भक्ति-साहित्यने संसारके साहित्यमें एक नई वस्तु दान की और वह यह कि आध्यात्मिक तथा कलासम्बन्धी सभी साधनाओंका लक्ष्य विचित्र रूपसे एक है, जो ज्ञानका विषय है, वही भक्तिका और वही रसका।

५–प्रेम-तत्त्व

जयदेव विद्यापति और चंडीदासकी राधा

सूरदासकी कविताका मर्म समझनेके लिए उनके पूर्ववर्ती तीन कवियोंकी रचनाओंसे तुलना करेंगे। इस तुलनाका लक्ष्य किसी कविका उत्कर्ष अपकर्ष दिखाना नहीं है, केवल सूरदासका विशेष दृष्टिकोण स्पष्ट करने भरसे ही यहाँ मतलब है। जिन तीन कवियोंकी चर्चा की जायगी वे हैं—जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास। ये तीनों ही राधाकृष्णके प्रेममें मत्त मधुर रसके उपासक थे। तीनों ही परकीया भावसे राधाकी वर्णना करते हैं, तीनोंने ही जिस भाषाका आश्रय लेकर कविता की है उस भाषाके साहित्यको धन्य कर दिया है। संस्कृत-वाङ्मयको जयदेवपर अभिमान है, मैथिलीको विद्यापतिपर नाज है और बंगला-साहित्य चंडीदासपर लट्टू है। चैतन्यदेव इन तीनों कवियोंकी कविताओंको सुनकर प्रेम-गद्‌गद हो उठते थे। इसलिए इन सुकवियोंकी कविताके साथ हिंदीके भक्तिरसकी तुलना अनुचित नहीं होगी।

सबसे पहले इन कवियोंकी वर्णित राधाको लिया जाय। परंपराके अनुसार जयदेव राधाकी परकीया भावसे उपासना करते थे पर उनकी पुस्तक '*गीत-गोविंद*में' इस बातका पोषक प्रमाण नहीं पाया जाता। यहाँ हम देखते हैं प्रेमका अबाध वेग है, जिसमें लोकलाजका कोई

स्थान नहीं है । वसन्त-कालमें वासती कुसुमसम सुकुमार अवयवोंसे सुसज्जिता होकर प्रेम विह्वला राधिका कृष्णको पागलकी भाँति खोजती फिरती हैं । सखियोंसे कृष्णके मिला देनेका अनुरोध करते समय वे एक बार कह जरूर जाती हैं कि 'मुझे उस कृष्णसे मिला दो जो प्रथम समागमसे लज्जिता मुझको शत शत चाटु वाक्योंसे प्रसन्न करेंगे—"प्रथमसमागमलज्जितया पटु चाटुशतैरनुकूलम्"—पर इस प्रथम-समागमकी लज्जामें नवोढाकी लज्जा नहीं है। जयदेवकी राधा शुरूमें ही कुछ प्रगल्भा-सी जान पडती हैं। वह जानती हैं कि श्रीकृष्ण बहुवल्लभ हैं, स्वच्छन्द भावसे अन्यान्य व्रज-सुन्दरियोंके साथ रमण कर रहे हैं, तथापि उन्हें कृष्ण चाहिए ही, बिना कृष्णके जीना असमव है। उस "प्रचुर-पुरन्दर-धनुरनुरञ्जित-मेदुर मदिर-सुवेशम्" के विना विश्वब्रह्माड फीका है, भले ही वह शठ हों, भले ही वह "गोप-कदम्बनितबवती-मुखचुम्बनलमित-लोभ" हों—पर वह मिलें जरूर।

पर विद्यापतिकी राधा विलास-कलामयी हैं, किशोरी हैं। यौवनका ईषद् उद्‌मेद हुआ है, रूप-लावण्यकी दीप्तिसे दीप्त हैं । वय:संधिकी अवस्था है, शैशव और यौवन दोनों मिल गये हैं, आँखोंने कानका रास्ता ले लिया है, वचनमें चातुरी आ गई है, हँसीकी रेखा अधरोंपर खेलने लगी है—पृथ्वीपर आसमानका चाँद प्रकाशित हो उठा है—

शैशव यौवन दुहुँ मिलि गेल,
श्रवनक पथ दुहुँ लोचन नेल।
वचन क चातुरी लहु-लहु हास,
धरनीए चाँद करत प्रकाश !

अपूर्व है यह रूप-माधुरी !

छने छने नयन-कोन अनुसरइ ।
छने छने वसन धूलि तनु भरइ ।
छने छने दसन-छटाछुट हास ।
छने छने अधर आगे कर वास ॥

यही नहीं—

जाहाँ जाहाँ पदयुग धरइ,
ताहीं ताहीं सरोरुह भरइ
जाहाँ जाहाँ झलकत अंग,
ताहाँ ताहाँ बिजुरी तरंग ॥

किस विधाताने रचना की है इस बालाकी —

" सुधामुखिक बिहि निरमिल बाला ।
अपरूप रूप मनोभव-मंगल
त्रिभुवन विजयी माला।
सुन्दर वदन चारु अरु लोचन
काजरे रंजित भेला ।
कनक कमल माझ काल भुजंगिनि
सिरियुत खंजन खेला ॥

सचमुच विद्यापतिकी राधा एक अपूर्व सृष्टि है । विधाताने केवल रूप ही नहीं दिया है, इस रूपके अनुरूप ही हृदय है । वैसी लीला वैसा ही विभ्रम ! कृष्ण उस रूप-माधुरीको निहारते ही रह जाते हैं, आशा नहीं पूजती ! आधा आँचल खिसका है, आधे मुँह तक हँसी आकर रुक गई है, आधी आँखों तक आनन्द-तरंग आकर रुद्ध हो गई है, अर्द्धोद्भिन्न उरोजपर दृष्टि बँध गई है, आधा ही आँचल भरा हुआ है, फिर प्रेमकी ज्वालासे प्रेमी क्यों न दग्ध हो जाय ? मोतियोंकी भाँति

झलकती हुई दसन-पक्तिपर प्रवाल-अधर मिल गये हैं और इस रूप और विभ्रमकी अवतार किशोरी मृदु भाषामें बातें कर रही है—इसे देखकर श्रीकृष्णकी आशा कैसे पूजे ?—

" आध आँचर खसि आध वदन हँसि आध हि नयन तरंग ।
आध उरज हेरि आध आँचर भरि तन धरि दगधे अनग ।
दसन मुकुता पाति अधर मिलायत मृदु-मृदु कहत हि भाषा ।
विद्यापति कह अतए से दुख रह हेरि हेरि ना पुरल आशा । "

विद्यापतिकी यह राधा नवीन प्रेमोल्लासमें विह्वल हैं—कृष्ण इस रूपपर मुग्ध हैं । राधा और कृष्णके सयोग चित्रको विद्यापतिने बहुत ही सुन्दर अंकित किया है । राधिकाका विरह भी हृदय-स्पर्शी है, पर विरहके बादका मिलन तो अपूर्व है । राधिकाका सारा हृदय-सौन्दर्य उसमें फूट पडा है—

कि कहब रे सखि आनन्द ओर,
चिर दिने माधव मन्दिर मोर !

बहुत दिनों पर माधव राधिकाके मन्दिरमें आये हैं, आह उस आनन्दको राधिका कैसे बतावें ?

दारुन वसन्त जत दुख देल,
हरिमुख हेरइते सब दुख गेल ।
पाप सुधाकर जत दुख देल,
पिया मुख दरसने तत सुख भेल ।
यतहुँ आछिल मोर हृदयक साध,
से सब पूरए हरि परसाद ।
रभस आलिंगने पुलकित भेल,
अधरक पाने विरह दूर गेल ॥

महाप्रभु चैतन्य इस पदको पढ पढकर व्याकुल हो उठते थे—

" व्याकुल होइया प्रभु भूमि से पडिला ! "

चण्डीदासकी राधा ऐसी नहीं हैं। उनका हृदय प्रेमसे पूर्ण है। श्यामका नाम सुनते ही वे पागल हो जाती हैं। यह मधुर नाम कान-में प्रवेश करके उनके मर्मको स्पर्श करता है, नाम जपते-जपते वह कृष्णको पानेके लिए व्याकुल हो जाती हैं—

" सइ, केबा शुनाइल श्याम नाम
कानेर भितर दिया मरमे पशिल गो
आकुल करिल मोर प्रान।
ना जानि कतेक मधु श्याम नामे आछे गो
वदन छाडिते नाहि पारे।
जपिते-जपिते नाम अवश करिल गो
केमने पाइब सइ तारे।"

चण्डीदासकी राधाका प्रेम अनुपम है, स्वर्गीय है। इस राधामें जयदेवकी प्रगल्भा विलासवती राधाकी छाया भी नहीं है, विद्यापतिकी रूप-मधुरा किशोरीका निशान भी नहीं है, यह विशुद्ध प्रेमकी मूर्ति है। चण्डीदास कहते हैं कि हमने ऐसी प्रीति न कहीं देखी है न सुनी है। दोनोंके प्राण प्राणोंसे बँधे हैं, विच्छेदकी भावनासे दोनों ही रो रहे हैं, क्षण भर न देखनेसे मरण हो जाता है—

एमन पीरिति कभू देखि नाइ शुनि,
पराने पराने बाँधा आपनि आपनि।
दुहुँ कोडे दुहुँ काँदे विच्छेद भाविया
तिल आध ना देखिले जाय जे मरिया॥

---

१ रीझे परस्पर वर नारि।
कंठ भुज भुज धरे दोऊ, सकत नहीं निवारि।
गौर स्याम कपोल सुललित अधर अमित सार।
परस्पर दोऊ पिय रु प्यारी रीझि लेत उगार।
प्रान एक द्वै देह कीन्हे भक्ति-प्रीति प्रकास।
'सूर'-स्वामी स्वामिनी मिलि करत रंग विलास॥

राधाने कृष्णको सकेत किया है—मिलनेका। अनेक पुण्यफलोंका उदय हुआ, प्रीतम मिलनेके लिए सकेत-स्थल पर आ गया। इस समय घोर अन्धकार था, भयानक मेघ-वर्षण हो रहा था, फिर भी न जाने कैसे बधु (मित्र) आ ही गया। पर हाय, राधा स्वाधीन तो नहीं है, घरमें गुरुजन हैं, दारुण ननद है, प्रियसे कैसे मिलन हो! आँगनमें बधु (प्रिय) भीग रहा है, देखकर छाती फटी जाती है, पर बाहर कैसे आवे? हाय हाय! सकेत करके प्रियको कितनी यातनाएँ दी है। राधिका बधुकी प्रीति और उसका दु:ख देखकर व्याकुल होकर कहती हैं—ऐसा मनमें आता है कि सिरपर कलककी डाली लेकर घरमें आग लगा दूँ। वह हमारा प्रेमी अपने दु:खको सुख समझता है, केवल हमारे दु:खसे दुखी है—

"सह, कि आर बलिब तोरे।
अनेक पुण्यफले, से हेन बधुया, आसिया मिलल मोरे।
ए घोर रजनी, मेघ घटा बधू केमने आइल बाटे,
आँगिनार माझे, बधुया भितिछे, देखिया पराण फाटे।
घरे गुरुजन ननदी दारुन, बिलम्बे बाहिर होइ नु,
आहा मरि मरि, सकेत करि, कत ना यातना दिनु।
बंधूर पिरीति आरति देखिया मोर मन हेन करे,
कलंकेर डालि माथाय करिया, आनल भेजाइ घरे।
आपनार दुख सुख करि माने आमार दुखे से दुखी
चण्डीदास कहे, कानुर पिरीति शुनिया जगत् सुखी।"

नाना विघ्न-बाधाओंके भीतरसे चडीदासकी प्रेमोन्मादिनी राधा चमक पड़ी हैं। वे विलासकी प्रतिमा नहीं है, भक्तिकी मूर्ति हैं। कृष्ण-की रूप-माधुरीके ध्यानमें उनका दिन कट जाता है। मेघोंमें प्रियतमका रग देख कर वे व्याकुल हो जाती हैं, कोकिलमें प्रियका स्वर-साम्य

देखकर वे अपनेको भूल जाती हैं। विरह हो या मिलन सर्वत्र उनमें आत्म-दानकी व्याकुलता दिखाई देती है—

सती वा असती, तोमाते विदित भालोमन्द नाहि जानि।
कहे चण्डीदास, पाप-पुन्य सम तोमार चरन खानि।

राधिकाकी एक ही कामना है, एक ही साध—हे मेरे बन्धु, और मैं क्या कहूँ, जन्म हो या मरण, जन्म-जन्ममें तुम्हीं मेरे प्राणनाथ हो। तुम्हारे चरणोंने मेरे प्राणोंमें प्रेमकी फाँस बाँध दी है, सब समर्पण करके एकचित्त होकर मैं तुम्हारी दासी हो गई हूँ—

"बंधू कि आर बलिब आमि।
मरने-जीवने, जनमे-जनमे, प्राणनाथ हइओ तुमि।
तोमार चरने आमार पराने बाँधिल प्रेमेर फाँसि।
सब समर्पिया एक मन हइया निश्चय हइलाम दासी।"

"हे मेरे बन्धु, तुम मेरे प्राण हो। देह, मन आदि, कुल, शील, जाति मान—सर्वस्व तुम्हें सौंप दिया है। हे काले, तुम अखिलेश्वर हो, तुम योगियोंके आराध्य धन हो। हम गोप ग्वालिनी तुम्हारा भजन-पूजन क्या जानें! प्रीति-रसमें तन-मन डालकर तुम्हारे चरणोंमें अर्पण कर दिया है—तुम्हीं मेरे पति हो तुम्हीं मेरे गति हो, मेरे मनको और कुछ नहीं भाता। मुझे लोग कलंकिनी कहते हैं, इसका मुझे जरा भी दुःख नहीं है। तुम्हारे लिए गलेमें कलंकका हार पहननेमें भी सुख है। सती हूँ या असती, तुमसे कुछ छिपा नहीं है। मुझे भले बुरेका ज्ञान नहीं, जानती हूँ केवल तुम्हारा चरण। वहाँ पाप-पुण्य समान है—

बंधू तुमि से आमार प्रान।
देह, मन आदि तोमारो सँपेछि, कुल शील जाति मान।
अखिलेर नाथ तुमि हे कालिया, योगीर आराध्य धन।
गोप गोपालिनी हाम अति हीना, ना जानि भजन पूजन।
परीति रसे ते, ढालि तनु मन, दियाछि तोमार पाय।

तुमि मोर पति, तुमि मोर गति, मन नाहि आन भाय ।
कलकी बलिया डाके सब लोक ताहाते नाहिक दुख ।
तोमार लागिया, कलंकेर हार, गलाय परिते सुख ।
सती बा असती, तोमाते विदित, भालो मन्द नाहि जानि ।
कहे चण्डीदास पाप पुन्य सम, तोहारि चरण खानि । "

केवल राधा ही नहीं कृष्ण भी प्रेमकी मूर्ति हैं । प्रियके संकेतपर वे आगमें कूद सकते है, समुद्रमें झाँप दे सकते हैं । भयानक काल-रात्रि और निविड़ मेघ-वर्षण उस प्रेममयीके सामने कुछ भी नहीं है । जहाँ इस प्रकारका प्रेम हो वहाँ मान कैसा ? कृष्णके लिए ससार राधामय है । घरमें, वनमें, शयनमें, भोजनमें जहाँ देखो तहाँ राधा ही राधा—

गृह माझे राधा, कानने ते राधा, सकले राधारे देखि ।
शयने भोजने गमने राधिका, राधिका सदाइ साँखे ।

राधाके लिए भी—

श्याम सुन्दर शरन आमार श्याम श्याम सदा सार
श्याम से जीवन श्याम प्रान मन श्याम से गलार हार ।
श्याम धन-बल श्याम जाति कुल, श्याम से सुखेर निधि
श्याम हेन धन अमूल्य रतन, भाग्ये मिलाइल विधि ।

सचमुच भाग्यसे ऐसा धन मिलता है । ऐसे प्रियतमके ऊपर अभिमान कैसे हो ? मान करके राधा अगर बैठ भी गई तो कृष्णका आकर फिर जाना असह्य हो उठता है । हाय वह नयनोंका तारा हमारी ही गलतीसे चला गया ! मैंने अपना सिर अपने हाथों काट दिया । हाय हाय, मैंने मान क्यों किया था ! हे सखि, भला वह (निराश) नटवर नागर किधर चला गया ? जिस कान्हके लिए तप और व्रत करती रहती हूँ वही मेरा अमूल्य धन मेरे पैरोंपर लोट रहा था, पर हाय, मैंने पैरोंसे ठेल दिया !—

आपन शिर हम आपन हाते काटिनु काहे करिनु हेन मान।
श्याम सुनागर नटवर शेखर काहाँ सखि करब पया।
तप परत कत करि दिन यामिनी जो कानूको नहीं पाय।
हेन अमूल्य धन मझु पदे गड़ायल कोपे मुजि ठेलिनु पाय।

अपूर्व तन्मयता है इस राधिकामें! कृष्णके विरहमें यह योगिनी हो जाती है। हाय कैसी है यह व्यथा! एकान्तमें बैठी रहती है, किसीकी बात नहीं सुनती, सदा मेघोंकी ओर टकटकी लगाये रहती है, खाना पीना छोड़ दिया है—एकदम योगिनी हो गई है—

आन्रे राधार कि हलो अन्तरे व्यथा।
बसिया विरले थाकइ एकले ना शुने काहारो कथा।
सदाइ ध्याने चाहे मेघ पाने ना चले नयनेर तारा।
विरति आहारे रागावास्त्र परे येन योगिनीर पारा॥

विद्यापति और चण्डीदासकी राधिकाकी तुलना कवि-कुल-गुरु रवींद्रनाथने इस प्रकार की है—" विद्यापतिकी राधिकामें प्रेमकी अपेक्षा विलास अधिक है, इसमें गम्भीरताका अटल स्थैर्य नहीं है। है केवल नवानुरागकी उद्भ्रान्त लीला और चाञ्चल्य। विद्यापतिकी राधा नवीना

१ तुलनीय—क्यों राधा नहीं बोलति है!
काहे भरनि परी व्याकुल ह्वै, काहे मन न खोलनि है?
कनक-बेलसी क्यों मुरझानी क्यों बनमाँहि अरुनी है!
कहाँ गय मन मोहन तजि के काहे विरह दहेली है!
स्याम-नाम श्रवननि धुनि सुनि के सखियन कंठ लगावनि है।
'सूर' स्याम आय यह कहि कहि ऐसे मन हरखावनि है।
और— राधे कत निकुञ्ज ठाढ़ी रोवति।
दुइ जोति मुखारविन्दकी चकित चहूँ दिसि जोवति।
द्रुम शाखा अवलम्ब बेलि गहि मन सों भूमि खनोवति।
मुकुलित कच तन धनकी ओट है अँसुवनि नीर निचोवति।
सूरदास प्रभु तर्मी गए ते भये प्रेम गति गावति।

हैं, नवस्फुटा हैं। हृदयकी सारी नवीन वासनाएँ पख फैला कर उड़ना चाहती हैं पर अभी रास्ता नहीं मालूम। कुतूहल और अनभिज्ञतावश वह जरा अग्रसर होती हैं, फिर सिकुड़े आँचलकी ओटमें अपने एकान्त कोमल घोंसलेमें फिर आती है। कुछ व्याकुल भी हैं, कुछ आशा निराशाका आन्दोलन भी है, किन्तु चण्डीदासकी राधामें जैसे "नयन चकोर मोर पिते करे उतरोल, निमिखे निमिख नाहिं सय" है, विद्यापतिमें उस प्रकारका उतरोल (उत्तरल=चचल) भाव नहीं है, कुछ कुछ उतावलापन अवश्य है। नवीनाका नया प्रेम जिस प्रकार मुग्ध, मिश्रित, विचित्र कौतुक-कुतूहल पूर्ण हुआ करता है, उससे इसमें कुछ भी कमी नहीं है। चण्डीदास गम्भीर और व्याकुल हैं, विद्यापति नवीन और मधुर।" दीनेश बाबू कहते हैं कि "विद्यापतिवर्णित राधिका कई चित्रपटोंकी समष्टि है। जयदेवकी राधाकी भाँति इसमें शरीरका भाग अधिक है हृदयका कम। किंतु विरहमें पहुँच कर कविने भक्ति और विरहका गान गाया है। उसके फ्रेममें बँधी हुई विलास-कला-मयी राधाका चित्रपट सहसा सजीव हो उठा है" विद्यापतिकी राधिका बडी सरला हैं, बडी अनभिज्ञा। चण्डीदासकी राधिका— प्रथम ही उन्मादिनी वेशमें आती हैं, प्रेमके मलय समीरमें उनका विकास हुआ है। इसके बाद प्रेमकी विह्वलता, कितना कातर अश्रु-सपात, कितना दुःख निवेदन, कितनी कातरोक्ति। प्रेमके दुःखका परिशोध है अभिमान, किंतु वह तो केवल आत्मवचना है। चण्डीदासकी राधामें मान करनेकी क्षमता भी नहीं है। दसो इन्द्रिय तो मुग्ध हैं मन मान करे कैसे? यह अपूर्व तन्मयता है।" धन्य हो चडीदास! तुम्हारी कविता धन्य है, तुम्हारी राधा धन्य हैं, तुम्हारे कृष्ण धन्य हैं और धन्य हैं हम लोग जो तुम्हारे साहित्य-पीयूषका पान कर सकते हैं।

सूरदासकी राधा

जयदेव कहते हैं कि "यदि हरि स्मरणमें मन सरस हो, यदि विलास-कलामें कुतूहल हो तो जयदेवकी मधुर, कोमल, कांत पदावलीको सुनो "—

> "यदि हरिस्मरणे सरस मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम् ।
> मधुरकोमलकान्तपदावलीं शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम् ।"

और कोई भी रसिक जिसने इस सरस्वतीका रसास्वादन किया है जयदेवकी बातमें रत्ती भर भी संदेह नहीं करेगा। जयदेवकी राधा विलास-कलाके कुतूहलको निःसंदेह दूर कर सकती है। विद्यापतिकी नवीन प्रेम-भरी कविता भी आपके इस कुतूहलको दूर कर सकती है। उसके गज-गमनसे, उसके अपाङ्ग-वीक्षणसे, उसके इन्द्रजाली पुष्पबाणोंसे, उसके चम्पेके फूलोंकी रस्सी जैसे बाहु-पाशसे, उसके सुमधुर वैननसे, उसके शरद्चन्द्राभ मुख-मण्डलसे, जगत्पतिका मनोमयूर नाच उठता है। उस अकामकी कामना पूरी हो जाती है।

> "गेलि कामिनी गजहु गामिनी विहसि पलटि निहारि।
> इन्द्रजालक कुसुम सायक कुहक भेलि वर नारि।
> जोरि भुज जुग मोरि बेढल ततहि बयन सुछन्द।
> दाम चम्पके काम पूजल जैसे सारद चन्द।"

पर चण्डीदासकी राधामें ये सब बातें बहुत कम हैं। उस मक्खनकी पुतलीको गलते देर नहीं। कान्ह ही उसके प्राण हैं, कान्ह ही जाति, कान्ह ही जीवन। कान्ह उसकी दोनों आँखोंकी तारा हैं। वह प्राणसे भी अधिक हृदयकी पुतली हैं जिसके खो जानेकी आशंका उसे क्षण-क्षणपर व्याकुल कर देती है—

"कानू से जीवन जाति प्रान धन, ए दुटि आँखिर तारा।
परान अधिक हियार पुतली निमिखे निमिखे हारा।"

विद्यापतिकी राधा ईषदुद्भिन्नयौवना हैं, जयदेवकी पूर्ण विलासवती प्रगल्भा और चंडीदासकी राधा उन्मादमयी, मोमकी पुतली। ये तीनों ही धन्य हैं पर और भी धन्य है वह बाल-किशोरी, वह 'लालकी बतरस लालचसे मुरली लुका' धरनेवाली, वह 'आँख मिचौनीमें बडरी अँखियानके कारण बदनाम' बरसानेकी छबीली वृषभानु-लली। वह बालिका है, वह किशोरी है, वह ग्वालिनी है, वह ब्रजरानी है। शोभा उसपर सौ जानसे निसार है, शृंगार उसका गुलाम है, त्रैलोक्यनाथ उसकी आँखोंकी कोरके मुहताज हैं फिर भी वह तद्गत प्राणा है। विरहमें वह करुणाकी मूर्ति है, मिलनमें लीलाका अवतार। प्रेमीके सामने वह सरल है, गाती है, नाचती है, हिंडोलेपर झूलती है—अपनेको एकदम भूल जाती है। प्रेमकी गम्भीरता आनन्द-कल्लोलसे भर जाती है, पर विरहमें वह गम्भीर है और गोपियोंकी तरह उसमें उतावलापन नहीं रहता। वह सच्ची प्रेमिका है। सूरदासकी राधा तीन लोकसे न्यारी सृष्टि है—अपूर्व, अद्भुत, विचित्र। सुनिए उसकी सौन्दर्य-कथा—

सुनि मोहन, तेरी प्राण पियाको बरणौं नन्दकुमार।
जो तुम आदि अन्त मेरो गुन मानहु यह उपकार।
चंद्रमुखी भौंहें कळक विच चन्दन तिलक लिलार।

मनु बेनी भुअंगिनी परसत स्रवत सुधाकी धार ।
नैन मीन सरवर आननमें चपल करत बिहार ।
मानो कर्नफूल चाराकौं रचकत बारंबार ।
बेसरि बनी समग्र नासापर मुक्ता परम सुढार ।
मनु तिल फूल अधर बिंबाधर दुहुँ बिच बूँद तुषार ।
सुठि सुढार ठोढ़ी अति सुन्दर सुंदरताको सार ।
चितवत चुभत सुधा-रस मानो रहि गइ बूँद मँझार ।
कंठसिरी उर पदिक बिराजत गज मोतिनके हार ।
दक्षिनावर्त देत मनु ध्रुवको मिलि नछत्रनि मार ।
कुच-जुग कुंभ सुढि रोमावलि नाभि सु ह्रद आकार ।
जनि जल सोखि लयो से सविता जोबन गज मतवार ।
रत्न जटित गजरा बाजूबँद सोभा भुजनि अपार ।
फुँदा सुभग फूल फूले मनु मदन बिटपकी डार ।
छीन लंक कटि किंकिनिको धुनि बाजत अति झनकार ।
मौर बाँधि बैठो जनु दूलह मन्मथ आसन धार ।
जुगल जंघ जेहरि जरावकी राजति परम उदार ।
राजहंस गति चलति कृसोदरी अति नितम्बन भार ।
निदरि रह्यो लहँगा रँग तनसुख सारी तन सुकुमार ।
सूर सुअंग सुगन्ध समूहनि भँवर करत गुंजार ॥

सूरदासकी राधा केवल विलासिनी नहीं हैं। श्रीकृष्णके साथ उनका केवल युवाकालका सम्बन्ध नहीं है, वे परकीया नायिका भी नहीं हैं। बहुत छोटी उम्रसे वे श्रीकृष्णके साथ गुड़ियोंके खेल खेल चुकी हैं, घटों अपने घर न जाकर नद बाबाके घरमें आँख मिचौनी खेलकर समय काट चुकी हैं। उस बारी वयमें ही एक गाढ़ प्रेमका आभास पाया जाता है जो खेलमें, हँसीमें, मानमें, अपमानमें, रोदनमें विचित्र भावसे विकसित हो उठा है। पहले ही दिन जब बालक कृष्ण खेलनेके लिए ब्रजकी

गलियोंमें निकलते हैं, इस अल्पवयस्का सखीको देखकर रीझ जाते हैं, नैन नैनोंसे मिल जाते हैं, ठगौरी पड जाती है—वह स्वर्गीय प्रेम है, वासनासे रहित निर्मल, विशुद्ध।

खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी।
कटि कछनी पीतांबर ओढे हाथ लिये भौंरा चक डोरी।
मोर मुकुट कुडल स्रवनन वर दसन दमक दामिनि छबि थोरी।
गये स्याम रवि-तनयाके तट अंग लसति चन्दनकी खोरी।
औचक ही दखी तहँ राधा नयन बिसाल भाल दिये रोरी।
नील बसन फरिया कटि पहिरे वेनी पीठ रुलति झकझोरी।
सग लरिकनी चलि इत आवति दिन थोरी अति छबि तन गोरी।
सूर स्याम देखत ही रीझे नैन नैन मिलि परी ठगोरी॥

यह पहला दर्शन था। श्यामने श्यामाको देखा। कैसा सुन्दर था वह रूप! गोरा शरीर, नीला वस्त्र, और पीठपर वेणी। अल्पवयस, आँखें विशाल और माथेपर रोरी। श्यामकी आँखें श्यामाकी आँखोंमें अटक गईं। यह उलझन युवा अवस्थाकी नहीं थी जिसमें वाक्य रुद्ध हो जाते हैं, यह वाल्यकालकी स्वर्गीय उलझन थी, जिसमें न झिझक है न सकोच। श्यामने कहा—क्यों जी, तुम हमारे साथ खेलने क्यो नहीं चलतीं, हम तुम्हारा कुछ चुरा लेंगे'—'तुम्हारो कहा चोरि हम लैहैं खेलन चलौ सग मिलि जोरी।' और फिर

प्रथम सनेह दुहुँन मन जान्यौ।
सैन सैन कीनी सब बातैं गुप्त प्रीति सिसुता प्रगटान्यौ।

श्यामने कहा—सखी हमारे घर आकर मुझे खेलनेको बुला लेना। तुम्हें वृषभानु बबाकी सौगन्ध, सुबह-शाम एक बार जरूर आना—'तुमहिं सौंह वृषभानु बबाकी प्रात साँझ एक फेर।' हाँ जी, तुम बडी

सीधी जान पड़ती हो, इसीलिए तुम्हारे साथ रहनेको जी चाहता है—
'सूधी निपट देखियत तुमको तातैं करियत साथ।' मगर ए सूरदास, इनको निपट सीधा न जानना, ये केवल चनचारी नहीं हैं, श्याम और श्यामा दोनों ही नागर और नागरी हैं, सुनते रहो इनकी मिलन कथा—
'सूर, श्याम नागर उत राधा नागरि दोउ मिलि गाय।'

फिर धीरे धीरे यह प्रेम गाढ़से गाढ़तर हो जाता है। आँखोंको विश्राम नहीं, सैन पर सैन चलते हैं, तिल-मात्रका वियोग भी असह्य हो उठता है। श्यामके प्रथम इशारेके मादक दर्शनसे राधिकाके कनक-कपोल व्रीड़ाके आवेगसे रक्तिम हो उठते हैं। यह प्रथम सकोचका उदय हुआ है। इसके पहले बहुतसे गुड़ियोंके खेल खेले जा चुके हैं परन्तु यह रक्तिमा तो आज ही की है। कितनी स्वर्गीय है यह—

कनक बरन सुढार सुंदरी सकुचि मुख मुसकाइ।
स्याम प्यारी नैन राचे अति बिसाल चलाइ।
सूर प्रभुके बचन सुनि सुनि रही कुँवरि लजाइ।

घरमें अन अच्छा नहीं लगता, चित्त सब समय गोष्ठमें ही आबद्ध है, खान-पान भूल गया है, कभी हँसती हैं, कभी रोती हैं, माँ-बापका भय भी लगा है, अब दोहनी लेकर गोष्ठमें जानेकी बड़ी उत्कण्ठा है—

नागरि मन गइ अरुझाइ।
अति बिरह तनु भई ब्याकुल घर न नेकु सुहाइ।
स्याम सुंदर मदनमोहन मोहिनी-सी लाइ।
चित्त चंचल कुँवरि राधा खान-पान भुलाइ।
कबहुँ बिलपति कबहुँ बिहँसति सकुचि रहति लजाइ।
मातु पितुको त्रास मानति मन बिना भइ बाइ।
जननि सों दोहनी माँगति बेगि दै री माइ।
सूर, प्रभुको खरिक मिलिहौं गए मोहिं बुलाइ।

इधर श्याम भी दोहनीके लिए व्याकुल हैं। श्याम और श्यामा दोनों ही खरिकमें दोहनी लिये पहुँच गये। नन्दने कहा—दोनो यहीं खेलो, दूर न जाना। फिर क्या था, 'जो रोगीको भावे, सो वैद्य बतावे।' राधिकाने कहा, 'सुनी तुमने नद बाबाकी बात? खबरदार, मुझे छोडके जाना मत, जरा भी हटे कि पकड लाऊँगी। अच्छा हुआ जो हमको सौंप गये। अब तुम्हें मैं छोडनेकी नहीं। तुम्हारी बाँह पकडके तुम्हारी रखवाली करूँगी, नहीं तो अम्मा खीझेंगी।' श्यामने कहा—'राधा मेरी बाँह छोड़ दे।' यह बाल-केलि है। दोनोंको पता नहीं कि वे किस ओर बहे जा रहे हैं। परन्तु, सूरदाससे यह बात छिपी नहीं है कि यह भी प्रेमकी बातें हैं—प्रेम, जो भविष्यमें सान्द्र-माधुर्यमें परिणत होगा—

नद बबाकी बात सुनौ हरि।
मोहिं छाँडिकै कबहुँ जाहुगे ल्याऊँगी तुमको धरि।
भली भई तुम्हें सौंपि गये मोंहि जान न दैहौं तुमको।
बाँह तुम्हारी नेक न छाडिहौं महरि खीझिहैं हमको।
मेरी बाँहि छाँडि दे राधा कर न उपरफट बातें।
सूर स्याम नागर नागरि सों करत प्रेमकी घातें॥

धन्य हो सूरदास! तुम्हारी भविष्यद्वाणी सच निकली। उस मेघ-मेदुर सध्याको नदने राधिकासे कहा—बेटी, श्यामको घर ले जा। दोनोंने सघन कुजका रास्ता लिया—

"गगन घहराइ जुरी घटा कारी।
पौन झकझोर, चपला चमकि चहुँ ओर, सुवन तन चितै नद डरत भारी।
कह्यो वृषभानुकी कुँवरि सों बोलिकै राधिका कान्ह घर लिए जा री।
दोऊ घर जाहु सग गगन भयो स्याम रंग कुँवर कर गह्यो वृषभानु बारी।

गये मन घन मोर नवल नन्दकिशोर नवल राधा नये कुंज भारी।
अंग पुलकित भये मदन तिन तन जए सूर प्रभु स्यामा स्यामा विहारी ॥१॥

इस प्रकार 'नवल गुपाल नवेली राधा नये प्रेम-रस पागे' और इस नये प्रेमकी धारा-सार वर्षासे सूर-सागर उद्वेलित हो उठा है—

'कबहुँक बैठि अंस भुज धरिकै पीक कपोलनि पागे।
अति रस-रासि लुटावत लूटत लालच लगे सभागे॥

*   *   *

अपनी भुजा स्याम भुज ऊपरि स्याम भुजा अपने उर धरिया।
यौं लपटाइ रहे उर-उर ज्यौं मरकत मणि कंचनमें जरिया॥

*   *   *

घूमत अंग परसपर जनु जुग चन्द्र करत हित वार।
रसन दसन भरि चापि चतुर अति करत रंग विस्तार॥

यहीं सूरदास विद्यापति और चंडीदासकी समान भूमिपर आते हैं। विद्यापतिकी राधा और चंडीदासकी राधा इसके पहले नहीं दिखाई देतीं। बाल-केलिकी वर्णनामें सूरदास अकेले हैं—Unique। पर इस समान भूमिपर भी सूरदासकी अपनी विशेषता है। राधा और कृष्णका मिलन एकदम अनूठा है। इसमें चिन्ता नहीं, आशंका नहीं, भीति नहीं। चंडीदासकी राधा मिलनमें भी विरहके त्रासमे भीत हो उठती हैं, पद पदपर विरहका भय, कलंकका भय, जुदाईकी जलन। यही भय

१ तुलनीय—

मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै—
र्नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे गृहं प्रापय।
इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुञ्जद्रुमम्।
राधा-माधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलयः॥—जयदेव

बराबर मनमें लगा रहता है, कि न जाने कान्हका प्रेम कब तिल भरके लिए भी छूट जायगा।

" एइ भय उठे मने एइ भय उठे।
ना जानि कानूर प्रेम तिले जानि छुटे॥ "

प्रेमीको देखकर अभी अभी हृदय जुडा जाता है पर दूसरे ही क्षण काँप उठता है उसकी अमगलकी आशकासे। ऐ सखियो, श्याम अगके शीतल पवन-स्पर्शसे मेरा हृदय शीतल हो गया, तुम लोग यमुना-जलमें स्नान करो ताकि उस पुण्य फलसे मेरे प्यारेका सारा अमङ्गल दूर हो जाय—

" सइ जुडाइल मोर हिया,
श्याम अंगेर शीतल पवन ताहार परश पाइया।
तोरा सखिगन करह सिनान आनि यमुना नीरे।
आमार बधुर यत अमगल सकल याउक दूरे। "

उधर विद्यापतिकी राधा प्रिय-मिलनका वर्णन करते-करते आनद-गद्गद् हो उठती हैं, वह पियाकी पिरीति कह भी नहीं सकतीं। अफसोस, ब्रह्माने उन्हें लाखों मुँह नहीं दिये। कैसी है वह प्रीति? "पियाने मुझे हाथ पकड़कर गोदमें बैठाया और मेरे शरीरमें सुगन्ध और चन्दनका लेप किया। अपने हृदयकी मालती माला उतार कर यत्नपूर्वक मेरे कण्ठमें पहना दी। अनुपम रूपसे मेरे लम्बे केश बाँध दिये, उसमें चम्पेके फूलोंकी रस्सी लपेट दी, मधुर मधुर दृष्टिसे मुँह निहारने लगा, आनद-वाष्पसे उसकी आँखें भर आईं।" विद्यापति कहते हैं कि यह प्रसग चलाते समय राधिका रातके रस-रगमें भूल गई।

पियाक पिरीति हम कहइ नइ पार,
लाख वयान विहि ना देल हमार।

करे धरि पिया मोर यहूठाएल कोर
सुगन्धि चन्दने तनु लेपल मोर।
आपन माल्ति माएा हियासे उतारि,
कठे पहिरावल यतने हमारि।
फूयल कबरी बान्धई अनुपाम,
ताहे बेढ़ल चम्पक दाम।
मधुर-मधुर दिठि हेरय बयान,
आनन्द जले परिपूरल नयान।
भनय विद्यापति इह परसग,
धनि भूलल कह इते रजनी क रंग॥

मगर समग्र सूर-साहित्यमें एक स्थानपर भी शायद राधिकाका इस प्रकारका उच्छ्वासित रूप नहीं मिलेगा। प्रेमकी उस आकण्ठ-पूर्ण कलशीमें कभी भी छलक नहीं आई। क्षण भरके लिए विद्यापतिकी समान भूमिपर आकर सूरदास फिर अपने स्वाभाविक मार्गपर आ जाते हैं। वही दिन भर कृष्णके साथ हास-विलास, मुरलीकी चोरी, माखनकी बँटाई और आँखोंकी लड़ाई। यशोदा राधिकाका वेश सँवार देती हैं, कृष्णके साथ खेलनेकी आज्ञा देती हैं, युगल मूर्तिका सारा दिन हँसी-खुशीमें कट जाता है। न अमंगलकी आशंका है न प्रेमका उच्छ्वास, यह सृष्टि अद्‌भुत है। राधिका देरसे घर पहुँचती हैं, माताको नये प्रेमका सन्देह होता है, माता डाँटती है—

काहेको तुम जहँ तहँ डोलति हमको अतिहिं लजावति।
अपने कुलकी खबरि करौ धौं सकुच नहीं जिय आवति।

मगर प्रेम गाढ़से गाढ़तर होता जाता है। पन-घटपर ठठोली होती है, रास्तेमें छेड़-छाड़, पर कहीं भी यह प्रेम उच्छ्वासके रूपमें फूट नहीं पड़ता। मानों इन सारी लीलाओंमें कोई विचित्रता नहीं, मानों ये इतनी

स्वाभाविक बाते हैं कि कभी किसीसे कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं। बिना किसी हिचकिचाहटके जोर देकर कहा जा सकता है कि इस प्रकारका अपने आपमें भरपूर प्रेम सूरदासकी ही लेखनीकी करामात है। प्रेमके सवा लाख गानोंका समुद्र एक बार भी उद्वेलित नहीं हुआ, कहीं भी निर्मर्याद नहीं हुआ! चाँदके सयोगमें वह उफन उठता है, पर उद्वेलित नहीं होता, विरहमें वह तरग-लोल हो जाता है, पर मर्यादा नहीं त्यागता। विरहके दो चार पदोंको देकर हम इस बातकी यथार्थता-की जाँच करेंगे।

सूर-सागरपर एक सरसरी निगाह दौडाने पर भी यह स्पष्ट हो जायगा कि सूरदासकी राधिका न तो विलासिनी हैं और न ग्वालिन। इन दोनों रूपोंका एक विचित्र सामजस्य ही मानों सूरदासका अभीष्ट प्रतिपाद्य है। राधा जब कृष्णके साथ खेलती हैं, हँसती हैं, रोती हैं, छेड़-छाड़ करती हैं तो एक शुद्ध प्रेम-मयीके रूपमें दिखाई देती हैं। यद्यपि सूरदास इस बाल-लीलाके भावी रूपकी ओर इशारा कर देनेमें कभी नहीं चूकते। कृष्ण मातासे कहते हैं—माँ, राधिका बड़ी चोर है, हमारी मुरली चुरा ले जायगी इसे सँभालके रख। यशोदा कह उठती हैं—"मेरे लालके प्राण खिलौना ऐसो को ले जै है री।" इसी तरह राधिका अपनी माँसे कहती हैं—"माँ, भारी दुष्ट है वह कान्ह, सारा दही ढरका देता है, मैं उस रास्ते नहीं जाऊँगी।" माँ बोल उठती हैं—"क्या हुआ, दहीकी क्या कमी है, तू उदास न हो।" पर सूरदास दोनों ही जगह अपने पाठकोंको आगाह कर देते हैं कि इनकी बात सुनते रहो, ये दोनों ही नागर हैं। राधा मान करती हैं। हजार मनाने पर नहीं मानतीं। दूतियाँ थक जाती हैं, कृष्ण मूर्छित हो जाते हैं, पर यह मान उनके मानका नहीं रहता। चडीदासकी राधिका इसके बहुत

पहले पानी-पानी हो गई होतीं—कह उठतीं, छि छि, इस दारुण मानके लिए मैंने प्यारेको खो दिया था, श्यामसुन्दरके मनोहर रूपको देखकर जीमें जी आया!—

"छि छि दारुण मानेर लागिया बँधुने हाराये छिलाम
श्यामसुंदर रूप मनोहर देखिया परान पेलाम।"

विद्यापतिकी राधा कृष्णको देखते ही गद्‌गद हो उठतीं—

दुहु मुँह हेरइत दुहु भेल धन्य।

परन्तु सूरदासकी राधा मानिनी हैं—दारुण मानिनी। इस मानिनीने ज्यों ही सुना कि कृष्ण दरवाजेपरसे लौटे जा रहे हैं, बस सारा मान भग हो गया। परन्तु मान भग होते ही दौड़के मिल नहीं गई। प्रियको प्रसन्न करना ही है तो जरा अच्छी तरह सजकर क्यों न चला जाय। इतनी देर तक उन्होंने प्रतीक्षा की ही, जरा और कर लेंगे। राधिका शृंगार करने लगती हैं और सखीसे सदेशा कह देती हैं—

ताहि कह्यो मुख दै चलि हरिको हौं आवति हौं पाछे।

और फिर वह शृङ्गार किया कि जिसका नाम—

"रत्न-जटित गजरा बाजूबँद शोभा भुजन अपार
फुँदा सुभग फूल फूले मनों मदन विटपरी डार।"

* * *

"छिकि रह्यो लहँगा रँग ता मंग तन सुभरत सुकुमार
सूर सुभग सुगध समूहनि भँवर करत गुंजार।"

मगर इस मानकी सारी दृढ़ता इस विश्वासपर निर्भर है कि कृष्ण उनके हैं और उन्हींके हैं। यही मानिनी कृष्णके मथुरा-गमनके बाद—

आजु रैनि नहिं नींद परी।
जागत गनत गगनके तारे रसना रटत गोविंद हरी।
वह चितवन वह रथकी बैठन जब अक्रूरकी बाँह गही।
चितवत रही ठगी-सी ठाढी कह न सकति कछु काम दही।
इतनो मन व्याकुल भयो सजनी आरज पंथहु ते बिहरी।
सूरदास प्रभु जहाँ सिधारे कितिक दूर मथुरा नगरी॥

सूरदासकी राधाका हृदय-सौन्दर्य देखना हो तो उद्धवका प्रसग देखिए। गोपियोंने क्या क्या नहीं कहा? कृष्णको भी कहा, उद्धवको भी कहा। बेचारे भौंरेकी तो दुर्गति ही कर डाली। पर हाय, राधिकाने क्या कहा? उस बरसानेकी चोरटीने कुछ भी नहीं कहा—कुछ भी नहीं। उद्धवके रथको देखकर गोपियोंने समझा था, श्यामसुन्दर आ गये। एक दौडी-दौड़ी राधिकाके पास भी पहुँची। राधाने सुना पर दौडी नहीं गई—चुप सी रह गई। उद्धव जब लौटकर मथुरा गये तो उन्होंने समाचार कहते समय कह दिया कि मेरा रथ देखकर गोपियाँ दौडीं, सबके आगे थीं राधा।

एक सखी उनमें जो राधा जब हौं इहँ ते गयौ।
तब ब्रजराज, सहित गोपी गन आगे ह्वै जो लयौ।

पर यह उनकी भूल थी। बादमें उन्होंने कहा कि राधिका दरवाजे-पर खड़ी थीं। जो मानिनी अपने मानमें इतनी दृढ रही वह दो कदम भी आगे न बढ सकी। हाय—

चलत चरन गहि रही गइ गिरि, स्वेद सलिल भयभीनी
छूटी लट भुज फूटी बलया टूटी लर फटी कंचुक झीनी।

और

जब सँदेसा कहन सुंदरि गवन मो तन कीन।
खसी मुद्रा चरन अरुझी गिरी सुवि बलहीन॥

कंठ वचन न बोलि आवै हृदय परिहस भीन।
नैन जल भरि रोइ दीनो ग्रसित आपद दीन॥
उठी बहुरि सँभारि भट ज्यों परम साहस कीन।
सूर, प्रभु कल्याण ऐसे जियहि आसा लीन॥

यह है वह प्रेम-सागर जिसमें कभी चञ्चलता नहीं आई। जिन आँखोंको देख कर कितनी ही नार नट-नागर मूर्छित हो पड़े थे—"कहुँ मुरली कहुँ लकुट परयो अन कहुँ पट कहूँ चद्रिका गोर।" जिस दशाको देखकर चकित सूरने पूछा था—"राधे तेरे नैन किधौं री बान?" उन्हीं आँखोंको उद्धवने किस रूपमें देखा?

"देखी मैं लोचन चुवत अचेत।"
"उमँगि चल दोऊ नैन बिसाल।"
"नैन घट घटत न एक घरी।"
"नैननि होड बदी बरसा सों।"

और

"तुम्हरे विरह ब्रजनाथ राधिका नैननि नदी बढ़ी।
लीने जात निमेष कूल दोउ एते मान चढ़ी॥"

परन्तु इस व्याकुल विरहिणीका कोई भी संदेश उद्धव न कह सके। प्रियतमके मित्रसे आखिर राधा क्या कहतीं। यह बात नहीं है कि राधिकाके पास कोई सन्देश नहीं था। उद्धवकी जगह अगर अन्य कोई पथिक होता तो वे संदेशा दे सकती थीं—

सुरति करि हाँ की रोइ दियौ।
पथी एक देखि मारग में राधा बोलि लियौ।

परन्तु संदेशा कहते समय

गद्गद कंठ हियो भरि आयो बचन कह्यो न दियौ।

यह पथी उद्धव नहीं था। सँभाल कर राधाने जो सन्देशा दिया उससे

" अपि ग्रावा रोदित्यपि गलति वज्रस्य हृदयम्! "

क्या था वह सन्देश? यही कि

" इतनी विनती सुनहु हमारी वारक हू पतिया लिख दीजै।
चरन-कमल दरसन तव नौका करुनासिंधु जगत जस लीजै॥ "

यह केलि-कलावतीका सन्देशा नहीं है, यह विलासिनीका अनुरोध नहीं है, यह एकान्त आश्रित भक्तकी करुण पुकार है। हाय इस सन्देशेमें कितनी करुणा है, कितनी विवशता है।

" सूरदास प्रभु आस मिलन की एक बार आवन ब्रज कीजै। "

पर उद्धव तो प्रियके अपने मित्र थे। कालिदासने कहा है कि स्वजनके सामने दुःख दरवाजा तोड़के निकल पड़ता है—

" स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते। "

फिर ऐसी अवस्थामें सन्देह क्या?

गोपियोंने कृष्णको दोष देना शुरू किया। प्रेमकी साक्षात् मूर्ति यह व्रज-सुन्दरी बोल उठी—

" सखी री, हरिहिं दोष जनि देहु।
ताते मन इतनो दुख पावत मेरोइ कपट सनेहु॥ "

क्योंकि,

" तदपि सखी व्रजनाथ बिना उर फाटि न हो घट बेहु। "

इस चित्रका और भी अधिक स्पष्टीकरण कुरुक्षेत्रके मिलनमें हुआ है। सखीने राधिकाको श्रीकृष्णके आनेका समाचार सुनाया। सुन कर राधिकाकी आँखोंमें आँसू भर आये। श्याम यद्यपि निकट आ गये हैं फिर भी कौन जाने उनसे कब मिलन होगा—

एक प्रान मन एक दुहुँन को तन करि दीसत न्यारी।
निज मन्दिर लै गइ रुकमिनी पहुनाई विधि ठानी।
सूरदास प्रभु तहँ पग धारे जहँ दोऊ ठकुरानी।"

और फिर

'राधा माधव भेंट भई।'

दोनों एक दूसरेकी चिंतामें तन्मय हो गये, तद्रूप हो गये। जैसे भ्रमरीकी अनवरत चिंता करनेवाला कीट भी भ्रमरी हो जाता है। राधा माधव बन गई और माधव राधा। माधव राधाके रंगमें रंग गये, राधा माधवके और हँसकर माधव बोले—हममें तुममें अन्तर क्या है?—

"राधा माधव भेंट भइ।
राधा माधव माधव राधा कीट-भृंग-गति है जु गई।
माधव राधा क रंग राँचे राधा माधव रंग रई।
माधो राधा प्रीति निरंतर रसना करि सो कहि न गई।
बिहँसि कह्यौ हम तुम नहिं अंतर यह कहि कै उन ब्रज पठई।
सूरदास प्रभु राधा-माधव ब्रज विहार नित नई-नई।"[1]

भगवान तो बोले पर, हाय, राधाने क्या कहा? बरसानेकी उस सुघर बालाके मुँहमें शब्द नहीं थे। प्रियतमके जानेपर पछता कर रह गई—

---

१ तु०—अनेक मरण परे मधुआ मिलल घरे राधिकार अन्तरे उल्लास।
हारानिधि पाइनू बलि, लइया हृदये तुलि राखिते ना सहे अवकाश॥

* ● *

मिलन दुहुँ तनु कि या अपरूप।
चकोर पाइल चाँद, चातिया पिरीति फाँद, कमलिनी पायल मधुप॥
रस भरे दुहुँ तनु, थर थर काँपइ, झाँपइ दुहुँ दोंहा आयेड़े गोर।
दुहुक मिलने आजि, निभायल अनल पायल विरहक ओर॥
—चण्डीदास

" करत कछु नाहीं आजु बनी ।
हरि आए हौं रही ठगी-सी जैसे चित्र धनी ॥
आसन हरषि हृदय नहिं दीन्हौ कमल कुटी अपनी ।
न्यौछावर उर अरघ न नैननि जल धारा जु बनी ॥
कंचुकि तैं कुच-कलस प्रकटि ह्वै टूटि न तरक तनी ।
अब उपजी अति लाज मनहिं मन समुझत निज करनी ॥
मुख देखत न्यारी-सी रहि गई बिनु बुधि मति सजनी ।
तदपि सूर मेरी यह जड़ता मंगल माहिं गनी ॥

यह हैं सूरदासकी राधा। भारतवर्षके किसी कविने राधाका वर्णन इस पूर्णताके साथ नहीं किया। बाल-प्रेमकी चंचल लीलाओंकी इस प्रकारकी परिणति सचमुच आश्चर्यजनक है। संयोगकी रस-वर्षाके समय जिस तरल प्रेमकी नदी वह रही थी, वियोगकी आँचसे वही प्रेम सान्द्र-गाढ हो उठा। सूरदासकी यह सृष्टि अद्वितीय है। विश्वसाहित्यमें ऐसी प्रेमिका नहीं है—नहीं है।

सूरदासकी यशोदा

सूरसागरकी तुलना महाभारतसे की जा सकती है। महाभारत कहानियों, घटनाओं, व्याख्यानों और उपदेशोंका विशाल समुद्र है। ग्रन्थकारको किसी भी बातको कहनेके लिए कोई जल्दी नहीं है। एक ही बात अगर दस बार भी कह दी गई तो उसे क्षोभ नहीं होता। उसे बिलकुल परवा नहीं है कि मूल कथाका सूत्र कहाँ छिन्न होता है और फिर कहाँ युक्त होता है। पर इन सारी कहानियों, घटनाओं आदिके कारण महाभारत इतना सजीव काव्य हो गया है कि उसका सामान्यसे सामान्य कोटिका पाठक विभिन्न चरित्रोंकी विशेषताओंको बता सकता है। एक बालक भी एक घटनाका आभास पाकर कह सकता है कि

इस विषयपर भीम, भीष्म, युधिष्ठिर, अर्जुन, दुर्योधन, शकुनि और द्रौपदी आदिके क्या मत होंगे। चरित्रोंकी इस विपिनस्थलीका एक भी चरित्र दूसरेके साथ एक रूप नहीं दीखता—Concide नहीं करता। ठीक यही बात सूरसागरके सम्बन्धमें कही जा सकती है। सूरदासको समयकी कमी नहीं है, वे एककी जगह दस पद गा सकते हैं, उन्हें कुछ भी त्वरा नहीं और कुछ भी हिचक नहीं। फल यह हुआ है कि उनकी राधा, उनके कृष्ण, उनकी यशोदा, उनके नन्द और उनके उद्धव अपना-अपना विचित्र व्यक्तित्व रखते हैं। गोपियोंके अलग-अलग नाम लेकर उन्होंने नहीं कहा, पर अगर परिश्रम किया जाय तो सूरसागरके पदोंका इस प्रकार वर्गीकरण किया जा सकता है कि इन गोपियोंमें दस-बीस प्रकृतिकी गोपियाँ मिल सकती हैं। ऐसा जान पड़ता है कि ग्रन्थकारने अपने मनमें अलग-अलग व्यक्तित्वकी गोपियाँ कल्पित की हैं पर जान-बूझके उनका अलग-अलग नाम नहीं दिया।

सूरसागरमें गोपियोंका इतना विस्तृत वर्णन है कि उसे स्त्री-चरित्रका काव्य कहें तो अनुचित न होगा। उसमें मातृ-रूपका अभूतपूर्व चित्र उतरा है। प्रेमिकाका, कामिनीका, पत्नीका, लड़कीका, रानीका, ग्वालिनका और पर-स्त्रीका इतना सुन्दर रूप शायद ही किसी एक काव्यमें स्पष्ट हुआ हो। कहा जाता है कि सूरदास बाल-लीला वर्णन करनेमें अद्वितीय हैं, मैं कहूँगा, सूरदास मातृ-हृदयका चित्र खींचनेमें अपना सानी नहीं रखते। कहा गया है, कि सूरदास प्रेमके स्वरूपके अपूर्व पारखी थे, मैं कहता हूँ, प्रेमिकाके हृदय-सौन्दर्यको तटस्थ भावसे चित्रण करनेमें सूरदासके साथ संसारके कुछ ही कवियोंकी गणना हो सकती है।

सूर-सागरके दो चित्र संसारके साहित्यमें बेजोड़ हैं—यशोदा और राधिका। यशोदाके वात्सल्यमें यह सब कुछ है जो 'माता' शब्दको

इतना महिमा शाली बनाये है। राधिकाके चित्रमें 'प्रेम'का अथसे इति तक सर्वस्व निहित है। अभागा है वह मनुष्य जिसने हिन्दी समझनेकी शक्ति रखकर मातृ-हृदयके उस स्वर्गीय प्रेमको नहीं देखा—

"मेरे कुँवर कान्ह बिनु सब कछु वैसेहि धरयौ रहै।
को उठि प्रात होत लै माखन को कर नेति गहै॥
सूने भवन जसोदा सुत के गुन गुनि सूल सहै।
दिन उठि घर घेरत ही ग्वारनि उरहन कोउ न कहै।
जो ब्रजमें आनद हुतो, मुनि मनसा हू न गहै।
सूरदास स्वामी बिनु गोकुल कौडी हू न लहै।"

* * *

है कोउ ऐसी भाँति दिखावै।
किंकिनि सब्द चलत धुनि रुनुझुनु ठुमुकि-ठुमुकि गृह आवै।
कछुक विलास वदन की सोभा मदन कोटि गति पावै।
कंचन मुकुट कठ मुकुतावलि मोर पंख छवि छावै।
धूसर धूरि अंग अँग लीने ग्वाल बाल सग लावै।
सूरदास प्रभु कहति जसोदा भाग बडे तें पावै।

* * *

जद्यपि मन समुझावत लोग।
सूल होत नवनीत देखि मेरे मोहन के मुख जोग।
प्रात-काल उठि माखन रोटी को बिन माँगे देहै।
अब उहि मेरे कुँवर कान्ह को छिन छिन अंकमें लैहै।
कहियौ पथिक जाइ घर आवहु राम कृष्ण दोउ भैया।
सूर स्याम कत होत दुखारी जिनके मों सी मैया।

* *

मेरे कान्ह कमल-दल-लोचन।
अब की बेर बहुरि फिरि आवहु कहा लगे जिय सोचन।
यह लालसा होति जिय मेरे बैठी देखत रैहौं,
गाइ चरावन कान्ह कुँवर सों कबहूँ भूलि न कैहौं।
करत अन्याव न बरजौं कबहूँ अरु माखन की चोरी,
अपने जियत नैन भरि देखौं हरि हलधर की जोरी।
दिवस चारि मिलि जाहु साँवरे कहियो यहै सँदेसौ,
अब की बेर आनि सुख दीजै, सूर मिटाय अँदेसौ।—इत्यादि

इत्यादि।

इन छन्दोंको चुनकर नहीं लिखा गया है। सूर-सागर इस प्रकारके रत्नोंसे आपाद-मस्तक लदा है। यशोदाके बहाने सूरदासने मातृहृदयका ऐसा स्वाभाविक, सरल और हृदयग्राही चित्र खींचा है कि आश्चर्य होता है। 'माता' संसारका एक ऐसा पवित्र रहस्य है जिसे कविके अतिरिक्त और किसीको व्याख्या करनेका अधिकार नहीं। सूरदास जहाँ पुत्रवती जननीके प्रेम-पेलव हृदयको छूनेमें समर्थ हुए हैं वहाँ वियोगिनी माताके करुण विगलित हृदयको भी उसी सतर्कतासे छू सके हैं। पुत्र वियोगिनी यशोदा वह माता है जो प्रेमकी असीम उपलब्धिसे परिपूर्ण है, वह प्रेम वियोगके रूपमें परिवर्तित होकर कभी पूर्णताके किसी अशको क्षुण्ण नहीं कर सका है।

हमने ऊपर जो कुछ कहा है वह शायद स्पष्ट नहीं हुआ। कुछ उदाहरण देकर उसे स्पष्ट किया जाय।

यह संसार ससीम और असीमकी लीला भूमि है। हम अनन्त प्रवाहमें बहते आ रहे हैं—युग-युगान्तरसे, कहीं विराम नहीं, कहीं थकान नहीं। कितने प्रेमी हृदयोंको हम छोड़ आये हैं, कितनेको छोड़ जायँगे, इसकी इयत्ता नहीं। इस वियोगकी निराट् धाराका स्रोत वियुक्त प्रेमीके प्रति

एकदम उदासीन है। वैष्णव कवियोंने इस सत्यकी उपलब्धि की है श्रीकृष्णकी लीलामें। श्रीकृष्ण परिपूर्ण हैं, अनन्त हैं, उदासीन हैं। यशोदा और राधिका, इस अनन्त वियोगरूपी दीर्घवृत्तके दो नाभि-केन्द्र हैं। ये सान्त हैं, अपूर्ण हैं और आसक्त हैं। वैष्णव मरमी कवि (Mystic) अत्यन्त सहज भावसे इस अपरिपूर्णताकी अनुभूतिको प्रेमसे भरता है। यही वैष्णव प्रेमका माहात्म्य है। सफल मरमी कलाकार वह है जिसने अपरिपूर्णको प्रेमके द्वारा परिपूर्ण किया है और पूर्णको उसके अभावका अनुभवी। यशोदाका चित्रण करते समय सूरदासने इस सहज परिपूर्णताको कभी क्षुण्ण होने नहीं दिया। यशोदा श्रीकृष्णकी उपस्थितिमें परिपूर्ण प्रेम-मयी हैं। वे उन माताओंमें नहीं हैं जो सतानकी मगल-आशासे सदा अश्रु-पूर्ण आँखोंसे आकाशकी ओर ताका करती हैं 'हे देवगण, जिसे पाया है उसे कहीं खो न दूँ।' यह प्रेम-पूर्ण चित्र ठीक राधिकाके समान ही उतरा है। सूरदासकी राधिका, चडीदासकी राधिकाकी भाँति, मिलनमें वियोगकी कल्पनासे कहीं भी सिहर नहीं उठतीं। यशोदा भी ठीक उसी तरह स्नेह-पात्रकी उपस्थितिमें उसकी वृथा अमगल-आशकासे उद्विग्न नहीं हो उठतीं। सूरदासकी राधिका और यशोदा दोनों ही मिलनके समय सोलह आना प्रेयसी और सोलह आना माता हैं। वियोगके समय दोनों ही सोलह आना वियोगिनी। दोनोंके प्रेम-समुद्रमें कहीं भी उफान नहीं आया। जो यशोदा पुत्रकी उपस्थितिमें कहती हैं—

> लाला हौं वारी तेरे मुख पर।
> कुटिल अलक मोहन मन बिहँसनि भृकुटी विकट ललित नैननि पर।
> दमकति दूध दँतुलिया बिहँसति मनौ सीप घर कियौ बारिज पर।
> लघु-लघु सिर कट घूँघरवारी लटकन-लटकि रह्यौ माथे पर।
> यह उपमा कापै कहि आवै, कछुक कहौं सकुचित हौं जिय पर।

नवतनचन्द्ररेखमधि राजत, सुरगुरु सुक उदोत परस्पर ।
लोचन लोल कपोल ललित अति नासिक को मुकता रद छद पर ।
सूर कहा न्योछावर करियै अपने लाल ललित लर ऊपर ।

वही यशोदा उसी लालकी अनुपस्थितिमें अत्यन्त व्याकुल हो उठती हैं–

जद्यपि मन समुझावत लोग ।
सूल होत नवनीत देखि मेरे मोहन के मुख जोग ।
प्रात काल उठि माखन रोटी को बिन माँगे दैहै ।
अब उहि मेरे कुँवर कान्ह को छिन छिन अँकम लैहै ।
कहियौ पथिक जाइ घर आवहु राम कृष्ण दोउ मैया ।
सूर स्याम कत होत दुखारी जिन की मो-सी मैया ।

इन दो पदोंमें आनन्दमयी और वियोगिनी यशोदाके दो चित्र एक ही प्रेमके दो परिणाम हैं । यह वह प्रेम नहीं है जो मिलनको वियोग और वियोगको मिलनकी रागिनीसे भर देता है, जिस प्रेममें चेतना सदा जाग्रत रह कर प्रेमीको सचेत करती रहती है, बल्कि यह वह प्रेम है जो प्रेमीको मिलनके आनन्दसे अज्ञात कर देता है और विरहके तापसे भी अज्ञान कर देता है, जो मिलनको केवल मिलन—ठोस मिलन—और विरहको केवल विरहके रूपमें देखता है । सूरदासकी यशोदा और राधा इसी प्रेमकी उपासिका हैं । सूर-सागरके पदोंमें जो कहीं-कहीं मिलनमें व्याकुलताका आभास मिल जाया करता है, जिसे हम अगले प्रकरणमें स्पष्ट करनेकी कोशिश करेंगे, वह भक्त कविकी अपनी आत्माकी व्याकुलता है । राधिका या यशोदामें उसका आरोप अनजानमें हो गया है ।

छबीले, मुरली नैंकु बजाउ।'

समस्त सूर-सागरमें सूरदासकी व्याकुल आत्मा नाना मिसोंसे कातर चीत्कार कर उठती है—' छबीले, मुरली नैंकु बजाउ !' श्रीकृष्ण ग्वाल-बालकोंके साथ दिन-रात मुरली बजाया करते हैं, पर उनकी प्यास नहीं बुझती। कृष्ण उनके अति निकट रहते हैं, मुरलीकी आवाज उनके लिए अपरिचित नहीं है, तथापि वे व्याकुल भावसे कह उठते हैं—मानों इस व्याकुलताके पीछे अन्ध कविकी व्याकुल आत्मा पुकार उठती हो—

" छबीले, मुरली नैंकु बजाउ।
बलि-बलि जात सखा यह कहि-कहि अधर सुधा रस प्याउ।
दुर्लभ जनम लहब वृन्दावन, दुर्लभ प्रेमतरग।
ना जानिये बहुरि कब ह्वै है स्याम तिहारो सग॥

इस गानमें ग्वाल-बालोंको उपलक्षण भर करके सूरदासकी आत्मा अपनी व्याकुलता प्रकट कर रही है। पनघटपर सखियोंने मुरलीके विषयमें जो कुछ कहा है, वह चाहे निंदा हो या स्तुति, ईर्ष्या हो या प्रेम—सर्वत्र उसके पीछे एक अव्यक्त ध्वनि निकला करती है—'छबीले, मुरली नैंकु बजाउ।' मुरलीके प्रति गोपियोंकी ईर्ष्या वैष्णव-साहित्यकी एक अति परिचित घटना है, पर सूरदासने इस ईर्ष्याके पीछे अपना व्याकुल व्यक्तित्व इस प्रकार बैठा दिया है जो बार-बार निकल पडता है—सखियाँ जब कहती हैं—

' बाँसुरी बिधिहू ते परबीन।
कहिये काहि आहिको ऐसो कियौ जगत आधीन।
चारि बदन उपदेस बिधाता थापी थिर चिर नीति।
आठ बदन गरजति गरबीली क्यों चलि है यह रीति।
विपुल बिभूति लही चतुरानन एक कमल करि थान।
हरिकर कमल जुगकपर बैठी बाढ्यौ यह अभिमान।

× × × ×

अधर सुधा पी कुल-व्रत टार्यौ नहीं सिखा नहिं ताग ।
तदपि सूर या नद-सुवनको याहीसौं अनुराग । '

तो इन सारी बातोंके पीछेसे एक व्याकुल उत्सुकता चीत्कार कर उठती है—' छबीले, मुरली नैंकु बजाउ।' राधिकाके बतरसमें, गोपियोंकी तना-तनीमें, पनघटकी छेड़-छाड़में, दानलीलाके सवाल-जवाबमें, एक अति झीनी झनकार उठा करती है—' छबीले, मुरली नैंकु बजाउ '। रास-लीलाकी यह आनन्द-केलि जिसकी तुलना संसारमें नहीं है, केवल एक मेरु-दण्डके चारों ओर चक्कर लगा रही है। ' छबीले, मुरली नैंकु बजाउ।'

व्रजभाषाका कवि, तत्रापि सूरदास, ठोस रूपके उपासक हैं, इस रूपावरणके पीछे कहीं भी तुरीय-अरूप-सत्ताकी ओर इशारा नहीं किया गया है, तथापि भक्त कविकी व्याकुलता उसके पीछे किसी न किसी रूपमें रह गई है। ईसाई मरमियोंके साथ सूरदासकी तुलना करते समय हमने इस बातपर प्रकाश डालनेकी चेष्टा की है। इस स्थान पर हम यही कहना चाहते हैं कि अपने समस्त मिलन और वियोगके गानोंमें सूरदासकी व्याकुलता छिपी पड़ी है। राधिकाके अति निकटवर्ती श्रीकृष्ण कभी भी वृन्दावनमें घरेलू आदमीसे ऊपर नहीं गये। राधिकाके साथ वे सर्वदा समान भूमिपर ही क्रीड़ा-कौतुकमें मग्न रहे, परन्तु फिर भी भक्त कविने इस सामीप्यमें एक सुदूरका सुर भर दिया है। यह बात शायद अनजानमें हो गई है, पर जो बात अनजानमें हो जाती है, वही निश्चित रूपसे मनुष्यके मस्तिष्ककी प्रधान चिन्ता होती है। हजार दबाने पर भी वह नहीं दबती। महाप्रभु वल्लभाचार्यके चेतानेके बादसे सूरदासकी तन्त्रीमें कहीं भी व्याकुलता फूट नहीं पड़ने पाई, पर प्रेम-मुखर कल कल्लोलोंसे छुट्टी पाते ही सूरदास अनजानमें, अपनी व्याकुलताको कह जाते हैं —

जद्यपि राधिका हरि संग ।
हाव भाव कटाच्छ लोचन करत नाना रंग।
हृदय व्याकुल धीर नाहीं बदन कमल बिलास।
तृषा में जलनाम सुनि ज्यों अधिक अधिकहि प्यास।
स्याम रूप अपार इत उत लोभ पट बिस्तार।
सूर मिलि नहिं लहत कोऊ दुहुँनि बल अधिकार।

× × × ×

राधेहिं मिलेहुँ प्रतीति न आवति।
जदपि नाथ बिधु-बदन बिलोकति दरसनको सुख पावति।
भरि-भरि लोचन रूप-परम-निधि उर में आनि दुरावति।
चितवति चकित रहति चित अंतर नैन निमेष न लावति।
सपनो आहि कि सत्य इस यह बुद्धि बितर्क बनावति।
कबहुँक करति बिचार कौन हौं को हरिकैं हिय भावति।
सूर प्रेम की बात अटपटी मन तरंग उपजावति।

इन भजनोंके पीछे कविका एक अपना व्यक्तित्व है, जो मानों राधिकाके मुँहसे आप बोल रहा है। मानों वह आधुनिक कवि[1]के कंठमें कंठ मिला कर कहना चाहता है—

"आमि चंचल हे,
आमि सुदूरेर पियासी।
दिन चलें याय आमि आनमने
तारि आशा चेये थाकि वातायने
ओगो प्राने मने आमिये ताहार
परश पावार प्रयासी,
आमि सुदूरेर पियासी

---

१ रवीन्द्रनाथ ठाकुर

है। इस भजनतत्त्वकी आलोचना करनेका अधिकार सबको नहीं है। हम लोग दुनियाकी प्रेम और कामके समुद्रमें आजीवन निमज्जित रहते हैं और मौके बे मौके इन वैष्णव कवियोंकी प्रेम-लीलाका गान सुनकर उनपर बरस पड़ते हैं। आज इस बीसवीं शताब्दीके विश्लेष युगमें, जब कि कोई भी साधना स्थायी रूपसे अग्रसर नहीं हो पाती (परिशिष्ट देखिए), हमने काम और प्रेमकी परिभाषा की है और बड़े-बड़े तत्त्व खोज निकाले हैं। भजन-तत्त्वका मर्मज्ञ भक्त विश्वास करता है कि वहाँ काम और प्रेम दो चीज नहीं हैं। इस युगके साहित्य शूर इसे सच समझें या झूठ, वह यही समझकर भजन करता है। उसी प्रेम-तत्त्वकी आलोचनामें प्रवृत्त होते समय हम गोलोकवासी वैष्णव भक्तसे प्रार्थना करते हैं कि 'हे वैष्णव कवि, तुम्हारी प्रेम-लीलाका वास्तविक रहस्य न समझते हुए भी इतना हम जानते हैं कि यह हमारी काम और प्रेमकी कल्पनाओंसे परे है। उस गूढ़ प्रेम-तत्त्वके सम्बन्धमें हम एक दम मौन रहेंगे। देखेंगे केवल उस स्रोतकी दिशा—यह किधरसे आया था। किधर गया था, यह प्रश्न हमारी आलोचनाकी अपेक्षा नहीं रखता। वह निश्चय ही राधिका-रानी और व्रजराजकी ओर चला गया था।'

सूरदास और नन्ददास, दोनों ही एक ही सम्प्रदायके साधक थे, दोनोंने ही भक्तजनोंके हृदयपर आसन पाया है और दोनोंका स्तर करीब करीब एक ही है। इन दोनों महात्माओंने भ्रमर-गीत तथा उद्धव और गोपियोंके संवाद लिखे हैं। इन संवादोंमें ज्ञानकी अपेक्षा प्रेमका मार्ग सहज और महान् बताया गया है। योग और निर्गुण उपासनाकी जगह सगुण उपासनाकी महिमा प्रतिष्ठित की गई है। दोनों संवादोंके पात्र, कथा, विषय और प्रणाली एक ही हैं। दोनों संवादोंका उद्देश्य भी एक ही है। अतः, यह देखना अप्रासंगिक न होगा कि इन संवादोंके वर्णन-कौशलमें कुछ विशेषता है या नहीं।

जद्यपि राधिका हरि संग।
हाव भाव कटाच्छ लोचन करत नाना रंग।
हृदय व्याकुल धीर नाहीं बदन कमल विलास।
तृषा में जलनाम सुनि ज्यों अधिक अधिकहि प्यास।
स्याम रूप अपार इत उत लोभ पट विस्तार।
सूर मिलि नहिं रहत कोऊ दुहुँनि बल अधिकार।

× × × ×

राधेहिं मिलेहुँ प्रतीति न आवति।
जदपि नाथ बिधु-बदन बिलोकति दरसनकौ सुख पावति।
भरि-भरि लोचन रूप-परम निधि उर में आनि दुरावति।
चितवति चकित रहति चित अंतर नैन निमेष न लावति।
सपनो आहि कि सत्य ईस यह बुद्धि वितर्क बनावति।
कबहुँक करति विचार कौन हौं को हरिकैं हिय भावति।
सूर प्रेम की बात अटपटी मन तरंग उपजावति।

इन भजनोंके पीछे कविका एक अपना व्यक्तित्व है, जो मानो राधिकाके मुँहसे आप बोल रहा है। मानो वह आधुनिक कवि[१]के कंठमें कंठ मिला कर कहना चाहता है—

"आमि चंचल हे,
आमि सुदूरेर पियासी।
दिन चले याय आमि आनमने
तारि आशा चेये थाकि वातायने
ओगो प्राने मने आमिये ताहार
परश पावार प्रयासी,
आमि सुदूरेर पियासी

१ रवीन्द्रनाथ ठाकुर

है। इस ब्रजतत्त्वकी आलोचना करनेका अधिकार सबको नहीं है। हम लोग दुनियावी प्रेम और कामके समुद्रमें आजीवन निमज्जित रहते हैं और मौके बे मौके इन वैष्णव कवियोंकी प्रेम-लीलाका गान सुनकर उनपर बरस पड़ते हैं। आज इस बीसवीं शताब्दीके विश्लेष युगमें, जब कि कोई भी साधना स्थायी रूपसे अग्रसर नहीं हो पाती (परिशिष्ट देखिए), हमने काम और प्रेमकी परिभाषा की है और बड़े-बड़े तत्त्व खोज निकाले हैं। ब्रज-तत्त्वका मर्मज्ञ भक्त विश्वास करता है कि वहाँ काम और प्रेम दो चीज नहीं हैं। इस युगके साहित्य शूर इसे सच समझें या झूठ, वह यही समझकर भजन करता है। उसी प्रेम-तत्त्वकी आलोचनामें प्रवृत्त होते समय हम गोलोकवासी वैष्णव भक्तसे प्रार्थना करते हैं कि 'हे वैष्णव कवि, तुम्हारी प्रेम-लीलाका वास्तविक रहस्य न समझते हुए भी इतना हम जानते हैं कि वह हमारी काम और प्रेमकी कल्पनाओंसे परे है। उस मूल प्रेम-तत्त्वके सम्बन्धमें हम एक दम मौन रहेंगे। देखेंगे केवल उस प्रेमकी दिशा—वह किधरसे आया था। किधर गया था, यह प्रश्न हमारी आलोचनाकी अपेक्षा नहीं रखता। वह निश्चय ही राधिका-रानी और ब्रजराजकी ओर चला गया था।'

सूरदास और नन्ददास, दोनों ही एक ही सम्प्रदायके साधक थे, दोनों ने ही भक्तजनोंके हृदयपर आसन पाया है और दोनोंका समय करीब करीब एक ही है। इन दोनों महात्माओंने भ्रमर-गीत तथा उद्धव और गोपियोंके सवाद लिखे हैं। इन संवादोंमें ज्ञानकी अपेक्षा प्रेमका मार्ग सहज और महान् बताया गया है। योग और निर्गुण उपासनाकी जगह सगुण उपासनाकी महिमा प्रतिष्ठित की गई है। दोनों सवादोंके पात्र, कथा, विषय और प्रणाली एक ही हैं। दोनों सवादोंका उद्देश्य भी एक ही है। अत, यह देखना शायद अनुचित न होगा कि इन सवादोंके वर्णित प्रेम-मार्गोंमें कुछ विशेषता है या नहीं।

नन्ददासकी गोपियाँ सूरदासकी गोपियोंसे अधिक तार्किक हैं। निर्गुण उपासनाका प्रसग हो या योगका, वे उद्धवकी युक्तियोंका इस खूबीसे खडन कर देती हैं कि सिखाये पढाये उद्धव निरुपाय होकर दूसरा विषय छेड़ देते हैं।

उद्धव कहते हैं—

जो उनके गुन होंय वेद क्यों नेत बखानैं।
निर्गुन सगुन आतमा रचि ऊपर सुख सानैं॥
वेद पुराननि खोजि कैं पायौ किनहुँ न एक।
गुन ही के जो होहिं गुन कहो अकास किहि टेक॥
सुनो ब्रजनागरी।

गोपियाँ जवाब देती हैं—

जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहाँ ते?
बीज बिना तरु जमैं मोहिं तुम कहौ कहाँ ते?
वा गुन की पट-छाँहरी माया दर्पन बीच।
गुनते गुन न्यारे भये अमल बारि जल कीच॥
सखा सुनु स्याम के।

उद्धव रास्ता न देख कर दूसरा तर्क उठाते हैं—

माया के गुन और और हरि के गुन जानौ।
उन गुन को इन माँहि आनि काहे को सानौ।
जाके गुन अरु रूप कौ जान न पायौ भेद।
तातें निगुन रूप को बदत उपनिषद वेद।

उद्धव पहले कह गये थे कि उनके तो गुण ही नहीं हैं, अगर होते तो वेद नेति-नेति क्यों कहते? अब कहते हैं हरिके गुण कुछ और हैं,

मायाके और। मायाके गुणोंको हरिमें आरोप करना अच्छा नहीं। असलमें हरिके गुण-रूपका भेद न समझ कर ही वेद उपनिषद उन्हें निर्गुण कहते हैं।

गोपियोंने इसका भी जवाब दिया—

> वेदहु हरि के रूप स्वाँस मुख से जो निसरै।
> कर्मक्रिया आसक्त सबै पिछली सुधि बिसरै।
> कर्म मध्य ढूँढै सबै कितहुँ न पायौ देख।
> कर्मरहित ह्वै पाइये तातें प्रेम विसेख।
> सखा सुनु स्याम के।

इस प्रकार तर्कमें नंददासकी गोपियाँ सदा उद्धवसे बीस रहती हैं। परन्तु सूरदासकी गोपियाँ तर्क जानती ही नहीं। वे स्वीकार कर लेती हैं कि योग और निर्गुण मार्ग बहुत अच्छा है, पर अबला ग्वालिनें, योग कैसे करेंगी? नन्दनन्दनके साथ जिन्होंने प्रत्यक्ष केलि की है उन्हें निर्गुण माननेकी जरूरत क्या है? तर्क वे बिलकुल नहीं जानतीं—

> ऊधोजी हमहिं न जोग सिखैये।
> जेहि उपदेस मिलैं हरि हमकौं सो ब्रत नेम बतैये।
> मुक्ति रहौ घर बैठि आपने निर्गुन सुनि दुख पैये।
> जिहि सिर केस कुसुम भरि गूँदे कैसें भस्म चढ़ैये।
> जानि-जानि सब मगन भये हैं आपुन आपु लखैये।
> सूरदास प्रभु सुनहु नवौ विधि बहुरि कि इहिं ब्रज ऐये।

* * *

> ऊधो मन न भए दस-बीस।
> एक हुतौ सो गयौ स्याम सँग को अवराधै ईस?
> इन्द्री सिथिल भईं केसौ बिनु ज्यौं देही बिन सीस।

आसा लागि रहत तनु स्वासा जीवहिं कोटि बरीस ।
तुम तौ सखा स्यामसुंदरके सकल जोगके ईस ।
सूर हमारे नंद-नंदन विनु और नहीं जगदीस ।

* * *

राखो सब यह जोग अटपटो ऊधौ पाइँ परौं ।
कहाँ रस रीति कहाँ तन सोधन सुनि-सुनि लाज मरौं ।

सूरदास की गोपियोंका एक ही तर्क है—ऊधो, योगकी बात न सिखाओ । कुछ ऐसी बात बताओ जिससे प्यारे मिलें ! इस सादगीके सामने बड़े-बड़े तर्कचूडामणि मौन हो जा सकते हैं, उद्धव तो फिर भी भक्त थे ! स्वय प्रेमकी महिमाके कायल थे । उद्धव जहाँ कुछ ज्ञानकथा शुरू करते हैं, वहीं सरल प्रेमका ऐसा महासागर उमड़ पड़ता है कि जो कुछ कहा वह न जाने कहाँ बह जाता है । नाना रूपमें एक ही बात सुनाई पड़ती है— योग और निर्गुणकी बात मत कहो, श्यामसे मिला दो ! नददासके उद्धवको तर्कमें परास्त होना पडता है, सूरदासके उद्धव अपना तर्क समझा ही नहीं पाते, उन्हें विजयी होनेका मौका ही नहीं मिलता । नन्ददासकी गोपियाँ युक्तिसे प्रेमकी महिमा स्थापित करती हैं, सूरदासकी गोपियोंके पास विरहका ऐसा खजाना है कि उसीको बाँटनेसे फुरसत नहीं मिलती, युक्ति और तक कौन करे ?

इस प्रसगमें कुब्जाके प्रति उपालभ भी ध्यान देने योग्य है । नन्ददासकी गोपियाँ कुब्जाकी खूब खबर लेती हैं । सूरदासकी गोपियाँ भी निःश्वास फक कर एक बार कुब्जाका नाम लेती हैं और भाग्यको दोष देकर रह जाती हैं । नन्ददासकी गोपियाँ कुब्जाका नाम स्मरण करते ही आपेसे बाहर हो जाती हैं—

कोउ कहैं रे मधुप तुम्हें लज्जा नाहिं आवै।
सखा तुम्हारो स्याम कूबरी-नाथ कहावै।
यह नीची पदवी हुती गोपीनाथ कहाय।
अब जदुकुल पावन भयो दासी जूठन खाय।
मरत कह बोल के।

* * *

कोउ कहै हो मधुप स्याम जोगी तुम चेला।
कुबजा तीरथ जाय किदौ इन्द्रिन को मेला।
मधुबन सुधि बिसराय कै आये गोकुल माहिं।
इहाँ सबै प्रेमी बसैं तुमरो गाहक नाहिं॥
पधारो रावरे।

* * *

कोउ कहैं रे मधुप होइ तुम सो जो संगी।
क्यों न होय तन स्याम सकल बातन चौरंगी॥
गोकुल में जोरी कोउ पाई नाहिं तुम्हारि।
मदन त्रिभंगी आपु ही करी त्रिभंगी नारि॥
रूप गुन सील को।

—और इतना कह चुकनेके बाद—

ता पाछे इक बार ही रुदित सकल ब्रजनारि।
हा करुनामय नाथ हा केसव कृष्ण मुरारि!
फाटि हियरो चल्यो!

नददासकी ये गोपियाँ दुनियाको जानती हैं। वे प्रत्येक बातकी छानबीन कर सकती हैं। कितनी करुणाजनक कल्पना है यह! प्रेम-मूर्ति गोपियोंको छोड़कर करुणा निधान भगवान् कुब्जासे प्रेम करने

लगे ! यह सोचना भी भयानक है—फाटि हियरौ चल्यौ ! उद्धवने ठीक ही समझा—

ये सब प्रेमासक्त हैं कुल-लज्जा करि लोप।
धन्य ए गोपिका।

परन्तु सूरदासकी गोपियाँ इतना सोच नहीं सकतीं। अपनी व्यथाके अपार समुद्रमें आप ही डूबती उतराती ये व्रजबालाएँ दूर तककी बात सोचनेकी फुरसत नहीं पातीं। कहीं कुब्जा याद आ गई तो उसका नाम लेकर एक बार लबी साँस छोड़कर फिर अपना ही चर्खा शुरू कर दिया—हाय ऊधो, नदनन्दनको भूलनेकी बात कह रहे हो ? तुम्हारी बात समझमें नहीं आती—

ऊधो, कहा हमारी चूक।
वे गुन वे औगुन सुनि हरि के, हृदय उठत है हूक।
बिन ही काज छाँडि गए मधुवन, हम घटि कहा करी।
तन-मन धन आतमा निवेदन, सोउ न चितहिं धरी।
रीझे जाइ सुंदरी कुबिजहिं इहि दुख आवत हाँसी।
जद्यपि कूर कुरूप कुदरसन तद्यपि हम व्रजबासी।
एते ऊपर प्रान रहत घट कहौ कौन सौं कहिए।
पूरब कर्म लिखे विधि अच्छर सूर सबै सो सहिए।

× × × ×

मधुप बिराने लोग बटाऊ
दिन दस रहे आपने स्वारथ तजि फिरि मिले न काऊ।
प्रीतम हरि हम को सिधि पठई आयौ जोग अगाऊ।
हम कौं जोग भोग कुबिजा कौं उहिं कुल यहै सुभाऊ।
जान्यौ प्रेम नन्द-नन्दन को कीजै कौन उपाऊ।
सूर स्याम कौं सरबस दीन्हौ प्रान रहौ कै जाऊ॥

× × ×

हम ब्रजबाल गोपाल उपासी।
ब्रह्म-ग्यान सुनि आवै हाँसी।
ब्रज में जोगकथा लै आयौ।
मन कुबिजा कूबरहिं दुरायौ।

इस प्रकार दोनों महात्माओंके प्रेममें एक स्पष्ट अन्तर दिखाई देता है। नददासका प्रेम मस्तिष्ककी ओरसे आता है, सूरदासका हृदयकी ओरसे। नददास युक्ति और तर्कको शुरूमें ही नहीं भूल जाते, सूरदासके यहाँ भूलने न भूलनेका सवाल ही नहीं है। वहाँ युक्ति और तर्क हैं ही नहीं। नन्ददासकी गोपियाँ प्रेममें बावरी हैं, तर्कमें नहीं, उपालभ करनेमें भी नहीं, परन्तु सूरदासकी गोपियाँ सब तरहसे भोरी हैं।

६–सूरदासकी विशेषता

गौडीय वैष्णव आलकारिकोंकी गोपियाँ और सूरदास

गौड़ीय वैष्णवोंके साथ सूरदासका क्या संबंध था, इस बातकी चर्चा हम आगे करेंगे। यहाँ गौडीय वैष्णवोंकी नायिकाओंके साथ सूरदासकी गोपियोंकी तुलना करेंगे। हमारा लक्ष्य सर्वदा सूरदासका विशेष दृष्टिकोण स्पष्ट करनेकी ओर होगा।

गौड़ीय वैष्णवोंके अनुसार व्रजमें दो तरहकी नायिकाएँ थीं।[1] कुछ स्वकीया और कुछ परकीया। भागवतमें कथा आती है कि कुछ गोपियाँ श्रीकृष्णको पति रूपमें पानेके लिए कात्यायनीका व्रत करती थीं। इनसे गान्धर्व-विधिसे श्रीकृष्णने विवाह किया था। ये स्वकीया थीं, बाकी परकीया। राधा दूसरी श्रेणीमें आती हैं। पर सूरदास राधिकाको परकीया नहीं समझते। राधिकासे श्रीकृष्णका विवाह बडी धूमधामके साथ होता है[2]। यही नहीं, राधिका भी और गोपियोंकी तरह श्रीकृष्णको पति-रूपमें

१ उज्ज्वलनीलमणिकिरण पृ० २ ३

२ सनकादिक नारदमुनि सिव विरंचि आन।
देव दुंदुभी मृदंग बाजे बर निसान॥
बारने तोरन बँधाइ हरि कीन्ह उछाह।
ब्रजकी सब रीति भइ बरसानै ब्याह। इत्यादि

पानेके लिए व्रत करती हैं[1]।

वैष्णव आलंकारिकोंने ३६३ प्रकारकी नायिकाओंके उदाहरणके लि सैकड़ों नाम गिनाये हैं। सूरसागरमें इन गोपियोंके नामोंका कोई उल्लेख नहीं देख पड़ता। कुछ मुख्य नाम जैसे राधा, ललिता आदि जरूर आते हैं, पर अधिकांश गोपियाँ विना नामकी ही हैं। उज्ज्वलनीलमणि गोपियोंके स्वभाव और वस्त्राभूषण आदिके बारेमें विस्तृत वर्णन है। उक्त ग्रन्थका एक संक्षिप्त संस्करण 'उज्ज्वलनीलमणिकिरण' नामसे विश्वनाथ चक्रवर्तीने सोलहवीं शताब्दीमें किया था। इस संक्षि अनुसार गोपियोंके स्वभाव इस प्रकार हैं—

"कुछ गोपियाँ प्रखर स्वभावकी थीं। जैसे श्यामला, मंगला आदि श्री राधा और पाली प्रभृति कुछ गोपियाँ मध्या और चन्द्रावली आदि कुछ मृदु-स्वभावा थीं। इनमें भी स्वपक्षा, सुहृत्पक्षा, तटस्थपक्षा और प्रतिपक्षा ये चार भेद हैं। इनमें भी कुछ वामा हैं और कुछ दक्षिणा। श्री राधिकाकी स्वपक्षा थीं ललिता और विशाखा सुहृत्पक्षा श्यामला, तटस्थपक्षा भद्रा और प्रतिपक्षा चन्द्रावली थीं। श्रीमती राधा वामा मध्या थीं, कभी नील वस्त्र धारण करती थीं, कभी लाल। ललिता प्रखरा

---

१ सिव सौं बिनय करति कुमारि।
जोरि कर मुख करति अस्तुति बड़े प्रभु त्रिपुरारि।
सीत भीत न करति सुंदरि कृस भई सुकुमारि।
छहौं रितु तप करति नीके गेह नेह बिसारि।
ध्यान धरि कर जोरि लोचन मूँदि इक-इक जाम।
बिनय अंचल छोरि रवि सौं करति हैं सब बाम।
हमहिं होहु कृपालु दिनमनि तुम बिदित संसार।
काम अति तनु दहन दीजै सूर हरि भरतार।

और मयूर-पुच्छ जैसा वस्त्र धारण करती थीं। विशाखा थीं वामा मध्या और तारावलि खचित वस्त्र पहनती थीं। इन्दुरेखा वामा प्रखरा और अरुण-वस्त्रा थीं। रंगदेवी और सुदेवी वामा मध्या और रक्त-वस्त्रा थीं। ये सभी गोरी थीं। चम्पकलता वामा मध्या और नील-वस्त्रा, चित्रा दक्षिणा मृद्वी नील-वसना, तुङ्गविधा दक्षिणा प्रखरा और शुक्लवस्त्रा, श्यामदा वामा दाक्षिण्ययुक्ता प्रखरा, और रक्तवस्त्रा, भद्रा दक्षिणा मृद्वी और चित्र-वसना, चन्द्रावली दक्षिणा मृद्वी और नीलवसना थीं। इनकी सखी पद्मा, दक्षिणा और प्रखरा, शैव्या दक्षिणा और मृद्वी थीं। ये सभी रक्त-वस्त्र धारण करती थीं[१]।"

इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि सूरदासने इतने नामोंको नहीं गिनाया पर जिन्हें गिनाया है उनमें राधाका वस्त्र इस विवृतिसे मिलता है[२]।

सूरदासने कभी-कभी दो एक सखियोंके नाम गिनाये[३] हैं पर उनमें प्रतिपक्षता या तटस्थ-पक्षताका कोई लक्षण नहीं मिलता। दान-लीलाके प्रसगमें चन्द्रावली, ललिता और विशाखाका नाम आया है सही, पर चन्द्रावली वहाँ ललिताकी भाँति ही एक सखी है। दानलीलाकी गोपियोंमें प्रश्नोत्तर करते समय नाम लेकर केवल राधाका वर्णन आया है। वहाँ राधा मध्या नायिका नहीं हैं। इनकी मुखरता दानलीला-के सैकड़ों पदोंमें फूट पड़ी है। पर यही राधा अन्यत्र मुग्धाकी भाँति

---

१ उ० नी० म० कि०, पृ० ६ ७

२ देखिये—

"नील लहँगा लाल चोली कसि उपरि केसरि सुरँगनो" २२८०

"देखो जुवतिवृन्दमें ठाढ़ी नील बसन तनु गोरी।"—१९६

"नील बसन फरिया कटि पहिरे बेनी पीठ रुचिर झकझोरी।" ४६२

३ दे० पद न० १०७३ (बा० राधाकृष्णजीका सस्करण)

उज्ज्वलनीलमणिके अनुसार राधा सदा व्यक्तयौवना किशोरी थीं[1], चन्द्रावली और पद्मा पूर्णयौवना। सूरदासकी राधा कई अवस्थाओंमें पाई जाती हैं। उनका बाल-रूप भी वर्णित है, किशोरी और तरुणी रूप भी। मगर सूरदासके इन स्वभाव और उम्रसंबंधी विविधताओंका अर्थ चित्रकी अनेकता नहीं है। उन्होंने राधाका एक सम्पूर्ण चित्र दिया है। अवस्था और परिस्थितिके अनुसार उसमें परिवर्तन दिखाई जरूर देता है, पर यह परिवर्तन चित्रको अधिक सजीव और आकर्षक बना देता है।

आलंकारिकोंने तीन प्रकारकी रति मानी है, साधारणी, समंजसा और समर्था। साधारणी रति कुब्जा आदिमें, समंजसा मथुराकी रानियोंमें और समर्था व्रज-बालाओंमें। समर्था रतिमें भी कई सीढ़ियाँ हैं। प्रथम दशामें रति बीजकी नाईं, प्रेम ईखकी नाईं, स्नेह रसकी तरह, मान गुड़की तरह, प्रणय खाड़की तरह, राग शर्करा (चीनी) की तरह, अनुराग मिश्रीकी तरह और अन्तमें महाभाव सितोपलकी भाँति दृष्ट होता है[2]। सूरदासकी राधा रुक्मिणीके साथ एक आसन पर दो बहनोंकी भाँति बैठती हैं, दोनों ही श्रीकृष्णकी परम प्यारी हैं। आलंकारिकोंके अनुसार महाभाव केवल राधामें ही सम्भव है। महाभाव वह है जहाँ प्रिय-मिलनके सुखके समान कोटि ब्रह्माण्डका सुख भी नहीं होता और उसके विरहके दुःखके समान कोटि नरकका दुःख भी नहीं होता। इसके भी दो भेद हैं मोदन और मादन। मोदनकी अवस्थामें पट्ट-महिषी-गणद्वारा आलिंगित होने पर भी श्रीकृष्ण राधाका स्मरण कर मूर्च्छित हो जाते हैं। मादन महाभावमें राधिकाको

१ उ० नी० म० कि० पृ० १० १२

२ वही पृ० १३ १४

श्रीकृष्णकी मुरली और वनमालासे भी ईर्ष्या होती है [1]। यह मादन महाभाव राधिकामें ही संभव है। पर सूरदास गोपियोंमें भी इस अवस्थाका वर्णन करते हैं।

भागवतामृतके अनुसार श्रीकृष्ण द्वारिकामें पूर्ण, मथुरामें पूर्णतर और व्रजमें पूर्णतम रहते हैं [2]। सूरदास इस मतपर विश्वास करते-से जान पड़ते हैं। सूरसागरमें व्रज-लीलाओंकी अधिकता है, मथुराकी कम और द्वारकाकी और भी कम हैं। व्रजमें श्रीकृष्ण ग्यारह वर्ष तक ही रहे। इसी अवस्थामें उन्होंने तीन तरहकी लीलाएँ कीं। बाल्य, पौगण्ड और कैशोर। सूरदाससे अधिक स्पष्ट रूपसे इन लीलाओंका वर्णन किसीने नहीं किया। सूरदासकी कवितासे साफ प्रकट होता है कि व्रज-लीलाके समय भगवान्की अवस्था दस वर्षके आस-पास थी।

बहुत होहुगे दसे बरस के बात कहत हौ बनै बनाई। ११४२

× × ×

सूरदास अब बड़े भये हौ जोबन दान सुहाइ। ११३९

× × ×

तरुनाइ तन आवन दीज कत जिय होत बिहाल।

× × ×

माँगत ऐसे दान कन्हाइ।

अब समुझीं हम बात तुम्हारी प्रगट भई कछु यौ तरुनाइ। ११३४

× × ×

मतलब यह है कि सूरदास वैष्णव आलंकारिकोंके पथका अनुकरण नहीं करते। कहा जा सकता है कि ऊपर जिन ग्रन्थोंके उद्धरणोंसे

१ वही पृ० १४ १७

२ *भागवतामृत कण पृ० ७*

सूरदासकी कविताकी तुलना की गई है वे सभी सूरदासके परवर्ती हैं या समकालीन। इसलिए उनका सूरसागरमें कोई प्रभाव विद्यमान न रहना स्वभाविक ही है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि ये बातें वैष्णवोंमें बहुत पहलेसे प्रचलित थीं। उक्त ग्रन्थोंके प्रणेताओंने उनका संग्रह भर किया है। इस बातको ध्यानमें रखनेपर सूरदासकी स्वतन्त्र सृजन-शक्तिका महत्त्व समझ पड़ता है।

सूरदासकी कविताका विषय

सूरदास भक्त थे। सूर-सागरका कोई भी पाठक कह सकता है कि सूरदास उस श्रेणीके भक्त नहीं थे जैसे तुलसीदास। तुलसीदासकी कोई भी रचना पढने पर उनके दास्य भावकी प्रधानता स्पष्ट ही दिखाई पड़ती है परन्तु सूरदासमें यह भाव नहींके बराबर है। सूरदास की भक्तिमें वात्सल्य भाव और सख्य भावकी प्रधानता है। माधुर्य-रसके प्रवाहमें शायद कभी भी वे गौड़ीय वैष्णवों जैसा नहीं बहे। राधा-भावके भजन सूर-सागरमें कम नहीं हैं, पर सूरदास सर्वत्र उन स्थानों पर तटस्थकी भाँति रहते हैं। कहीं भी राधामें आत्म भाव या सखी-भाव नहीं रखते। आरम्भमें सूरदास, जान पड़ता है, सख्य या वात्सल्यकी अपेक्षा दास्यकी ओर अधिक झुके थे। 'सूरदासकी विनयपत्रिका' के नामसे जो संग्रह प्रकाशित हुआ है, उसमें सूरदास दास्य-रसके ही भक्त जान पड़ते हैं। इस अनुमानका समर्थन गोकुलनाथजीकी चौरासी वैष्णवोंकी वार्तासे भी होता है। उक्त ग्रन्थके अनुसार एक बार महाप्रभु बल्लभाचार्य व्रजमें आकर कुछ दिनोंतक गऊघाटपर टिके रहे। यहीं सूरदासजीका स्थान था। उनकी भक्ति और गानकी मिठासके कारण बहुत लोग सूरदासके सेवक हो गये थे। महाप्रभुके आनेकी खबर जब सूरदासको मिली तो दर्शनार्थ उनके पास गये। उस समय महाप्रभु

ठाकुरजीको भोग समर्पण करके स्वय भी भोजन कर गादीपर विराज रहे थे। सूरदासको देख कर आपने कुछ भगवद्-भजन करनेका आदेश किया। सूरदासने आज्ञा पाकर यह पद गाया—

हरि हौं सब पतितन कौ नायक।
को करि सकै बराबरि मेरी और नहीं कोउ लायक॥

* * *

ऐसी कितिक गिनाऊँ प्रानपति सुमरन है भयौ गाढ़ौ॥
अब की बार निबार लेउ प्रभु सूर पतित कौ टाँडौ॥

तथा—

प्रभु हौं सब पतितन कौ टीकौ।
और पतित सब द्यौस चारि के हौं तो जनमत ही कौ॥
बधिक अजामिल गनिका तारी और पूतना ही कौ।
मोहिं छाँड़ि तुम और उधारे मिटै सूल क्यों जी कौ॥
कोउ न समरथ अघ करिबे कौं खैंचि कहत हौं लीकौ।
मरियत लाज सूर पतितन में मोहूतें को नीकौ॥

यह सुन प्रभुने कहा—"सूर ह्वै कैं ऐसो घिघियात काहेकों है, कछु भगवान्-लीला वर्णन करि।" इसपर सूरदासने अपना अज्ञान बताया तब महाप्रभुने उन्हें स्नान करके उनके पास आकर समझ लेनेकी आज्ञा दी। यथावत् कर लौट आने पर महाप्रभुने पहले सूरदास-को नाम सुनाया, फिर समर्पण कराया और बादमें भागवत दशम स्कन्धकी अनुक्रमणिका कही। इसके बाद सूरदासको ज्ञानोदय हुआ और सारी भागवतकी लीलाका स्फुरण हुआ और उन्होंने यह पद गाया—

"चकई री चलि चरनसरोवर जहाँ न प्रेमवियोग।"

यह पद उन्होंने आचार्यकृत दशम स्कन्धकी सुबोधिनीके मंगला चरणकी कारिकाके अनुरूप बनाया। यह कारिका इस प्रकार है—

" नमामि हृदये शेषे लीलाक्षीराब्धिशायिनम्।
लक्ष्मीसहस्रलीलाभि सेव्यमानं कलानिधिम्॥"

सूरदासके पदको सुनकर आचार्य संतुष्ट हुए। बादको सूरदासने यह पद सुनाया—

"व्रज भयौ महर कै पूत जब यह बात सुनी" इत्यादि।

इस परम्पराकी सचाईपर अविश्वास करनेका कोई कारण नहीं है। इसलिए यह मान लिया जा सकता है कि महाप्रभुके संसर्गमें आनेके बाद सूरदासने अपना पुराना रास्ता छोड़ दिया और अपने गानोंका मुख्य विषय भगवत्-लीलाको ही बना लिया।

सूर-सागर और कुछ नहीं, शुरूसे अन्त तक भगवत्-लीलाका वर्णन है। इसी लीलाके अन्तरालसे सूरदासका युग देखना पड़ता है जो सम्पूर्ण न होते हुए भी अस्पष्ट नहीं है। यत्र-तत्र उससे उस युगकी रहन-सहन, पहनावा, बोल-चाल, धर्म विश्वास आदिपर प्रकाश पड़ता है। पर सूरदासने भूलकर भी इन विषयोंपर प्रत्यक्ष रूपसे कुछ नहीं लिखा।

७—कवि सूरदासकी बहिरंग-परीक्षा

१ आधुनिक और मध्ययुगका साहित्य

एक बार हम भक्त सूरदासको जहाँका तहाँ छोड़ देना चाहते हैं। केवल कवि सूरदासकी चर्चा—सो भी बहिरंगकी चर्चा—अनुचित जरूर है, पर इस बीसवीं शताब्दीके लेखकको इस अनौचित्यकी सीमाके भीतर प्रवेश करना आवश्यक हो गया है। सूर-साहित्यकी बहिरंग-परीक्षामें ही इस अनुचित प्रवेशके कारणपर प्रकाश पड़ेगा।

एक युग था जब साहित्यकी रचना ऊँचे आदर्शपर की जाती थी। काव्य हो या नाटक, उसका नायक 'प्रख्यातवंशो राजर्षि धीरोदात्त प्रतापवान्' हुआ करता था। उसके वर्ण्य विषयका यह आवश्यक कर्तव्य समझा जाता था कि वह मनुष्यके किसी स्थायी भाव—रति, उत्साह आदि—को जाग्रत करे। पर आज वह युग नहीं रह गया है। आज शिक्षाका विस्तार हुआ है, जीवनकी समस्याएँ शतमुखी होकर परिदृष्ट हुई हैं,—साहित्य सस्ता हो गया है, साहित्यकार चंचल। उस युगका कवि एक ऊँचे आदर्शकी कल्पना करता था और पाठकके चित्तको अपनी इन्द्रजाली भाषाके द्वारा ऊपर उठाता था। वह उसी ऊपरके कल्पना-लोकमें मानव चित्तकी सारी अनुभूतियाँ प्रतिफलित करता था जिसका फल यह होता था कि सहृदयका चित्त उससे आनन्द तो ले सकता था पर नाना समस्याओंके बोझसे क्लान्त नहीं हो उठता था।

कालिदासके मेघदूतमें ऐसी कोई बात नहीं है जो साधारण विरही नित्य-प्रति अनुभव न करता हो, परन्तु फिर भी उसमें एक ऐसा गुण है जो सहस्राधिक वर्षसे मनुष्यके चित्तको उद्‌भ्रान्त किये है। यह गुण है उसका नित्य जीवनके ऊपरके कल्पना-लोकमें अवस्थान। अति प्रकृत यक्षके मुँहसे, मेघोंके द्वारा जो सदेशा, अलकापुरीमें, (जहाँ चिर यौवन नित्य वर्तमान रहता है) भेजा गया है वह सपूर्ण भावजगत्‌की चीज हो गई है। आज इतना ऊँचा जाना बेकार समझा जाता है। हमारे सामने ही, नाना भाँतिकी समस्याएँ पडी हुई हैं जो प्रेम और विरहको नाना भावोंसे विचित्र बना सकती हैं तो हम दूर क्यों जायँ? एक अशिक्षित मजदूरकी विरह-कथा क्या किसी यक्षकी विरह-व्यथासे कम महत्त्व रखती है? और फिर प्रेम और विरहकी वही एकघृष्ट (Monotonous) पुरानी बातें बार-बार दुहरानेकी आवश्यकता ही क्या है? मनुष्यकी अन्तर्वृत्ति आजकी भौतिक सभ्यताकी जटिलताके कारण नाना समस्याओंकी क्रीड़ा भूमि हो गई है। मजूरों और पूँजी पतियोंके नाना मनोभाव इससे पहले इस रूपमें दृष्टिगोचर नहीं हुए थे, स्त्री और पतिके प्रेममें वह पुरानी एक-रसता अब नहीं रह गई है, उसकी भी नाना दिशाएँ हैं नाना समस्याएँ हैं, फिर इन बातोंको साहित्यमें क्यों न स्थान दिया जाय? आज स्त्री और पुरुषमें प्रति द्वन्द्विता है, स्वामी और भृत्यमें प्रतिद्वन्द्विता है, शासक और शासितमें प्रतिद्वन्द्विता है, न्यायाधीश और अपराधीमें प्रतिद्वन्द्विता है, साधु और चोरमें प्रतिद्वन्द्विता है—संसार प्रतिद्वन्द्वियोंका अखाड़ा हो गया है। साहित्य इन समस्याओंको कैसे भुला दे?

ठीक ही है। साहित्य जिस वेगसे उन्नत हो रहा है उसे देखते हुए यह आशा करना व्यर्थ है कि वह मध्य-युगके या आदि युगके परि-

कल्पित आदर्शोंकी सकीर्ण सीमामें बैठा रहेगा। वस्तुत आज यही हो रहा है। ससारके किसी भी बडे कवि या नाटककारकी रचनाको पढ जाइए, उसमें एक ही प्रयत्न नाना रूपोंमें चित्रित मिलेगा—वर्तमान समस्याओंका समाधान। परन्तु ये वर्तमान समस्याएँ हैं क्या? एक शब्दमें कहना हो तो कहेंगे—अप्रेम।

जिस साहित्यकी नींव अप्रेमपर हो वह ऊँचा हो सकता है, गम्भीर तत्त्वपूर्ण भी हो सकता है पर स्थायी नहीं होगा। मध्य-युगके भक्त कवियोंमें इस प्रकारकी समस्याओंके समाधानकी कोई ऐसी प्रवृत्ति नहीं है,—समस्याएँ भी इतनी अधिक नहीं थीं—परन्तु वह एक सुदृढ नींवपर स्थापित है—यह सुदृढ नींव है प्रेम।

ऊपरकी बात हम जितनी जल्दी कह गये हैं, शायद उतनी जल्दीमें कहना अनुचित हुआ है। क्या सचमुच मध्य-युगके सामने कोई समस्या नहीं थी? इसी अध्ययनके पिछले अध्यायोंका हवाला देकर बताया जा सकता है कि उस समय भी समाजको एक विकट समस्याका समाधान करना पड़ रहा था। सूरदास आदि भक्तोंने अपने ढगसे उसके समाधानका प्रयत्न भी किया था। और फिर हमसे पूछा जा सकता है—आजके इस विराट् साहित्यिक प्रयत्नमें क्या सचमुच कोई स्थायित्वका चिह्न नहीं है? क्या सचमुच फिल्डिग, स्मोलेट, बालजाक, दोदे, जोला, अनातोले फ्रान्स, गेटे, तुर्गनेव, टाल्सटाय, बर्नर्ड शा, गाल्सवर्दी, मेटरलिंक, रवीन्द्रनाथ और प्रेमचन्द, एक अस्थिर साहित्यकी सृष्टि कर रहे हैं या कर गये हैं? इन बडे-बडे साहित्य महारथियोंमें अनेकके ग्रन्थ-रत्नोंको मौलिक या अनूदित रूपमें देखनेका सौभाग्य इन पक्तियोंके लेखकको नहीं प्राप्त हुआ। जो कुछ देखा है, या देखनेवालोंके मुँहसे सुना है वह निश्चय ही अपूर्व है।

कितने ही साहित्यकोंके ग्रन्थ-रत्नोंको निश्चय ही यह कृतज्ञ संसार चिरकाल रक्षित रखेगा।

फिर सूरदास आदि मध्य-युगके कवियों और इन आधुनिक साहित्यिकोंमें भेद क्या रहा ? सूरदास भी अपने युगकी समस्याओंका समाधान कर गये हैं, मेटरलिंक या गाल्सवर्दी भी वही कर रहे या कर गये हैं। सूरदासके युगमें भी कितने ही कवि ऐसे हो गये हैं जो संसारमें नाम-शेष होकर भी नहीं रह सके और इस युगमें ऐसे कवि-रत्न हैं जो चिरकालके लिए अपनी कीर्ति छोड़ जायँगे। फिर कौन-सी ऐसी विभाजक रेखा है जो मध्य-युगके कवियोंकी विशेषताका निर्देश करेगी ?

सच पूछिए तो भेद है, और इसी भेदके अनुसंधानके लिए हम सूरदासको केवल कविके रूपमें देखना चाहते हैं। वह भेद है, आकृति और प्रकृतिका, भाषा और भावका, रूप और रसका, शरीर और आत्माका। आधुनिक साहित्य-निर्माताके ग्रन्थमें बिना किसी अपवादके आप एक गुण पायेंगे। पन्नेके बाद पन्ना पढ़ते जाइए आपका मस्तिष्क नहीं ऊबेगा। प्रत्येक पन्नेमें कुछ ज्ञान-विज्ञानकी, कुछ तत्त्व-अतत्त्वकी बातें इस सुन्दरताके साथ लिखी मिलेंगी कि आप मन्त्रमुग्धकी भाँति आगे बढ़ते जायँगे। दूसरी ओर मध्य-युगके या आदि युगके किसी महाकाव्यको लीजिए—उदाहरणके लिए वाल्मीकी रामायण। जगह-जगहपर फीके श्लोक ही नहीं मिलेंगे, अध्यायका अध्याय अनावश्यक बोझ-सा जान पड़ेगा। फिर भी उस युगके महाकाव्यमें सब मिला कर कुछ मिलेगा परन्तु इस युगका ग्रन्थ समाप्त होनेके बाद आपको जहाँका तहाँ छोड़ देगा। उस युगका काव्य महानदके समान है, उसके दस-बीस-पचास तरंग निरर्थक या शिथिल भी हों तो कोई हर्ज नहीं, बीच-बीचमें शैवाल-पुंजके कारण आविलता भी आ गई हो तो

कुछ बात नहीं—अन्तमें वह रसके महा समुद्रकी ओर ले जायगा ही। दूसरी ओर इस युगके काव्यका प्रत्येक पन्ना एक-एक मणि है। एकके बाद दूसरे रत्नकी आभापर मुग्ध होते जाइए परन्तु यहीं तक, इसके आगे नहीं। वर्तमान युगका समस्या-नाटक आपकी आँखमें उँगली घुसेड़ कर कानूनकी दुर्बलता, न्यायकी अन्याय-परायणता, प्रेमकी अप्रियता, विवाहकी विच्छिन्नता, धर्मकी अधार्मिकता—घृणाका प्रेम दिखा देगा और बस। आप जिस दुनियामें हैं वह दुनिया और भी नग्न होकर आपके सामने आ जायगी।

मध्य-युगका कवि भी कम-बेशी दुनियाको उसके वास्तविक रूपमें दिखायगा। सूरदास, तुलसीदास, कबीरदास सबने दुनियाके उस मायावी जगकी ओर अंगुलि निर्देश किया है। परन्तु उस युगकी कवितामें—हम केवल कविताकी बात कह रहे हैं भक्ति-भरे पदोंकी नहीं—यह समस्या नितान्त गौण स्थान अधिकार करती है। वही मुख्य होकर नहीं आती। आप अगर न भी जानें कि किन सांसारिक अड़चनोंकी ओर इशारा किया गया है तो भी रस-बोधमें रत्ती भर भी कमी नहीं आयेगी। परन्तु आजके किसी नाटक या काव्य या उपन्यास, जिसमें आधुनिक समस्याओंपर प्रकाश डाला गया है, पढ़िए—आप निरन्तर सोचते रहेंगे, 'वाकई हम लोग इस प्रकारकी पेचीदी जिंदगी बसर कर रहे है और हमारा ध्यान भी कभी इधर नहीं जाता।' देखना है कि इसका कारण क्या है। क्यों मध्य-युगका कवि अपने पारिपार्श्विक जगतसे इतना ऊँचा उठ जाता है। सूरदासको लेकर ही अध्ययन आरम्भ किया जाय।

इस प्रश्नके उठते ही सबसे पहली बात जो आँखोंके सामने आती है वह है साहित्यके आकारकी। इस युगका साहित्यिक साहित्यको

एक विशुद्ध आधुनिक वेशमें सजाता है। इसकी भूमिका पाठककी कल्पना-भूमिके साथ एक ही तलमें रहेगी। जितनी ही यह उस तलमें रहेगी इस साहित्यके लिए उतनी ही अधिक सुविधा होगी। परन्तु मध्ययुगका कवि अपनी भूमिका पाठककी भूमिकासे कहीं ऊँची—अवश्य ही, समानान्तर—रखेगा।

असीम और निरपेक्ष कृष्णके साथ ससीम और सापेक्ष गोपियोंकी प्रेम लीला ऊपरसे कितनी ही मोहक हो, है एक अतुलनीय Tragedy। उस विरहका कोई कूल-किनारा नहीं, कोई हद्दो-हिसाब नहीं। वैष्णव कवि अपने साहित्यिक आकारके लिए इस सनातन-कथाको चुनेगा और फिर संसारका सारा हाव भाव, लीला विभ्रम इस महासागरमें लीन कर देगा। उद्धव-संवादके बहाने 'सूर-सागर' के स्थिर गम्भीर वारि राशिमें संसारकी सारी व्याकुलता और सारी विरह-वेदना प्रतिबिंबित हुई है। गोपियोंकी प्रेम लीला मर्त्य-लोकके मनुष्यकी पहुँचसे कितनी ही ऊँची क्यों न हो, है उसके समानान्तर। इस आकार-निर्वाचनमें वैष्णव कविकी समता संसारके शायद ही कुछ कवि कर सकें। यहीं मध्य-युगका कवि आधुनिक युगके कविसे अलग हो जाता है।

साहित्य-सृष्टिकी मूल शक्तिका नाम संश्लेषणी है, विश्लेषणी नहीं। स्थायी साहित्यकी रचनाके लिए आवश्यक है एक अत्यन्त दृढ समुन्नत भूमि। वह एक तरफ जहाँ मानव चित्तके अति निकट नहीं होना चाहिए वहीं दूसरी ओर उसमें सामयिकताकी ऐसी निकटता भी नहीं होना चाहिए जो चित्तको तत्तद् समस्याओंमें उलझा दे। वर्तमान साहित्य, इस रास्तेपर नहीं चल रहा है। उसमें विश्लेषणकी प्रधानता है, संश्लेष या संघातकी नहीं, वह किसी दृढ समुन्नत भित्तिपर अवस्थित नहीं है, अथ च उसमें सामयिकताकी मात्रा पर्याप्त है। इस दृष्टिसे जहाँ

मध्ययुगका साहित्य आकारमें इससे भेद रखता है वहाँ प्रकारमें भी। इस युगके साहित्यमें विश्लेष इतने वेगसे दिखाई नहीं पड़ा। यह ठीक है कि आदि युगके काव्यकी अपेक्षा मध्य-युगका काव्य अधिक विश्लेष-प्रवण है पर उतना तो एक दम नहीं जितना आजका।

सूर-सागरके प्रत्येक पदको उसीमें स्वतन्त्र समझा जा सकता है तथापि सारा सूर-सागर 'सागर' है। उसकी एक-एक तरंग जिस प्रकार विश्लिष्ट भावसे पूर्ण है उसी तरह सश्लिष्ट भावसे भी। सूरदासकी यह विशेषता है। वे विश्लेषमें भी अनुपम हैं, सघातमें भी।

इसके बाद ही मध्य-युग और वर्तमान युगकी विभाजक दूसरी रेखा दिखाई पड़ती है। यह है भाषा और भावकी। अधुनातन साहित्य वस्तुवादका पुजारी है। वह सब ओरसे Natural या Real (स्वाभाविक या वास्तव) होना चाहता है। और क्षेत्रोंमें नाना क्षेत्रोंका विवाद रह सकता है पर भाषा और भावमें वह निश्चय ही Real होगा। एक मजदूरकी बातोंमें वह केवल, मजदूरी, प्रकृति, पहुँच और रचना भरको ही ध्यानमें नहीं रखेगा, उसका उच्चारण, उसकी व्याकरणसम्बन्धी गलतियों और महावरोंकी भूल भी ज्योंकी त्यों रख देगा। मध्य-युगके सस्कृत नाटकोंमें यह प्रवृत्ति दिखाई पड़ी थी पर वह एक सीमा तक आकर रुक गई। आजका साहित्य रुकनेका नाम नहीं जानता, उसे केवल आगे बढना मालूम है,—निरतर आगे बढना।

सस्कृत भाषाका एक शब्द है 'भाव' अर्थ है, that, what is—जो है!' यही 'that what is' आजके साहित्यकी प्रधान बात है। परन्तु भाव' कहाँका ' भारतीय पण्डितोंका कहना है—'भीतरका'। ऊपरी आवरण चाहे जैसा हो, देखो उससे भीतरकी वह चीज स्पष्ट हुई है या नहीं, 'जो है'—what, is। गोपियोंकी भाषा

गोपियोंके अनुरूप है या नहीं—इससे कुछ आता जाता नहीं। योग-मार्गके उपदेशक उद्धवकी भाषामें दार्शनिक गम्भीरता है या नहीं—इस चिन्ताकी आवश्यकता नहीं। केवल देखो, उन्होंने हृदयके जिस 'भाव' ('जो है') को छूना चाहा था उसे छू पाया है या नहीं। अगर छू पाया है, काम हो चुका—'भाव अनूठो चाहिए भाषा कोऊ होय।' सूरदासकी भाषाका लक्ष्य उसी भावको छूना है, वह आलंकारिक भी है, सादी भी है, चिन्मय भी है, पर है सर्वत्र भावकी अनुगामिनी। वह real और unreal से बहुत ऊपर है।

सौ बातकी एक बात यह कि मध्य-युगकी कविता रूप और रसको अपने-अपने स्थानपर अच्छी तरह सजाती है। रसकी सृष्टि करते समय वह रूपको अग्रसर नहीं कर देती और रूपकी रचनाके समय वह उसे नीरस नहीं होने देती। उसका रूप रसका आश्रय है, रस रूपका पूरक।

इतना सुन लेनेके बाद हमारे पाठक शायद हमको यह अधिकार देंगे कि हम मध्ययुगकी कविताकी आत्माकी ओर इशारा करें। यह आत्मा है प्रेम। बीसवीं शताब्दीकी प्रतिद्वन्द्विताकी समस्याएँ सौ पचास वर्षमें या तो लुप्त हो जायँगी या दूसरा रूप धारण कर लेंगी। पर श्रीकृष्ण और राधिकाकी सुदृढ समुन्नत भूमिपर प्रतिष्ठित ये प्रेम और विरहके गान अनन्त काल तक यों ही बने रहेंगे। न इनमें जीर्णता आयेगी न मृत्यु। इनकी आत्मा है जो,

"सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदर ।
लोकोत्तरचमत्कारप्राण कैश्चित्प्रमातृभिः
स्वाकारवदभिन्नत्वे नायमास्वाद्यते रस ।"

~~~~~~
~~~~~~

२ सूरदासका साहित्य, उनकी जीवनी और प्रभाव

अठारहवीं शताब्दीके अन्तिम भागमें एक फ्रेंच पंडितने सूरदासके कुछ भजनोंका फ्रेंच भाषामें अनुवाद किया था। ये भजन उसने किसी ग्रामीण भिखारीके मुँहसे सुने थे। इसके बाद पचास साल तक योरपमें किसीने इनके पदोंका कुछ परिचय प्राप्त किया या नहीं, नहीं मालूम। उस समयके कुछ अनधिकारी पादरियोंने कृष्णायत सम्प्रदायों और कृष्ण भक्तोंके विरुद्ध एक विषैला वातावरण तैयार कर रखा था। पी० ज्योर्ग्री (P Georgri) नामक एक ऐसे ही पादरीने प्रचार किया था कि कृष्ण वस्तुत प्रभु (क्राइष्ट) का नामान्तर है जिसे अति दुष्ट वचकों (हिन्दुओं) ने बड़ी धूर्तता और नीचताके साथ इस पवित्र चरित्रको गँदला कर दिया है। (Cunningly and impiously polluted by most wicked imposters) जहाँ इस प्रकारका विकृत वायुमण्डल हो वहाँसे कुछ आशा करना व्यर्थ है।

परन्तु यह अवस्था बहुत दिनों तक नहीं रही। एफ़० एस० ग्राउज (F S Growse) नामक प्रसिद्ध पंडितने सन् १८८३ में 'चौरासी वैष्णवोंकी वार्ता' का कुछ अंश अंग्रेजीमें अनूदित किया। इससे योरपके पंडितोंका ध्यान सूर-साहित्यकी ओर आकृष्ट हुआ। विल्सनकी प्रसिद्ध पुस्तक The religious sects of the Hindus में भी कुछ अंश अनूदित होकर प्रकाशित हुआ था। परन्तु सूरदासका वास्तविक परिचय कराया हिन्दी-साहित्यके अति परिचित पंडित ग्रियर्सनने। सन् १८८९ में कलकत्तासे इनकी पुस्तक The modern vernacular literature of Hindustan (हिन्दुस्तानकी वर्तमान देशी भाषाओंका साहित्य) प्रकाशित हुई। उसी सालके 'जर्नल आफ दी एशियाटिक सोसायटी, बङ्गाल'में आपने हिन्दी कवियोंकी एक

नामावली भी प्रकाशित कराई। सन् १९०७ के एक लेखमें ग्रियर्सन साहबने अपनी पुस्तककी तारीखोंकी अप्रामाणिकता स्वीकार की है। (The dates in this are frequently taken from the native sources and are not always to be relied upon)

योरपके पंडितोंने इस भक्त-कविकी महिमाको हृदयगम किया हो या नहीं, भारतवर्षके पंडितोंने बहुत पुराने जमानेसे अपना हृदय खोलकर इनके चरणोंमें अपनी श्रद्धाजलि अर्पण की है। पुराने जमानेकी 'चौरासी वैष्णवोंकी वार्ता' 'भक्तमाल' आदि पुस्तकोंसे लेकर इस युगके नाना पंडितोंकी आलोचनाओंमें इस महाकविके प्रति असकोच आदर भाव प्रदर्शित किया गया है। इस युगमें सूरदासके प्रति जो श्रद्धांजलि दी गई उसमें सर्वश्रेष्ठ, और शायद सर्वप्रथम भी, है भारतेन्दु हरिश्चन्द्रकी। इसके बाद अन्य अनेक पंडितोंने इस साहित्यका रसास्वादन किया और कराया है। साहित्यकी छान-बीन भी हुई है और फलस्वरूप सूरदासकी वास्तविक जीवनी और उनकी लिखी पुस्तकोंकी वास्तविक तालिका भी तैयार करनेकी कोशिश की गई है। पता चला है कि उनके बनाये ग्रन्थोंके नाम हैं सूर-सागर, सूरसारावली, साहित्य-लहरी, भागवत दशमस्कधकी टीका, ब्याहलो और नलदमयन्ती। सूरसारावली सूरसागरका ही सक्षिप्त सस्करण है। साहित्य-लहरी उनके दृष्टकूटोंमें कुछ और जोड़कर रची गई है। नाग-लीला और पद सग्रह सूर सागरके ही भाग हैं। अन्तिम तीन ग्रन्थों (टीका ब्याहलो, और नल दमयन्ती) के बारेमें पंडितोंको सन्देह है कि ये सूरदासके रचित हैं या नहीं। अर्थात् सूर-सागर ही उनका ग्रन्थ है।

वास्तविक जीवनी ' पंडितोंने अथक परिश्रमके बाद उनकी निकट तम वास्तविक जीवनी खोज निकाली है। और वास्तविक ग्रन्थ तालिका '

वह भी तैयार कर ली गई है। कहा जाता है, सूर-सागरमें सवा लाख पद हैं, पर पंडितोंने देखा है, दस हजार भी नहीं हैं। कहा जाता है सूरदासने अपनी प्रेमिकासे आँखें फुड़वा ली थीं, पंडित-मण्डलीको इसका कोई प्रमाण नहीं मिला। कहा जाता है, सूरदासको भगवान्‌ने कुएँमेंसे निकाला था। पंडित लोग इन बच्चोंकी-सी बातपर हँसकर रह गये हैं और फिर भी वास्तविक जीवनी तैयार है।

पंडितमंडली मुझे क्षमा करे—मैं उसके परिश्रम और उसकी ईमानदारीका आदर करता हूँ,—सूरदासकी वास्तविक जीवनी वह नहीं है जो ऐतिहासिक प्रमाणोंके बलपर तैयार की गई है। उनका वास्तविक साहित्य वह नहीं है जो पुरानी कीट क्लिष्ट पोथियोंमें लिखा गया है। कोटि-कोटि भारतवासीके हृदयपर वह साहित्य लिखा हुआ है। वही उनका वास्तविक साहित्य है। उसमें सचमुच सवा लाख पद हैं—सवा-लाख, असंख्य! और उनकी वास्तविक जीवनी इस प्रकार है—

उस दिन यमुनाके किनारे अचानक एक प्रौढ़ युवक दिखाई दिया। संसारमें वह उसी रूपमें आया था। उसका रंग गौर, मुँह सुन्दर, बातें मीठी और रूप लुभावना था। वह साधु था।

युवक साधुकी ओर देखकर उसकी ओर आकृष्ट हुए बिना नहीं रहा जाता था। पौर युवतियाँ इस साधुके चरणोंमें अपनी भक्ति भेंट करनेके लिए उतावली हो उठीं। साधु निर्मम, निःस्पृह भावसे सबकी ओर देखता, आशीर्वाद देता और फिर भगवानका नाम जपने लगता।

एक दिन साधु ध्यानावस्थ होकर बैठा था। पौर-युवतियोंका दल आज भी अपने पति-पुत्रकी मंगलाकामनासे साधुको प्रणाम कर रहा था। साधु आज चंचल था। उसने जोरसे आँखें मूँद लीं। इसी समय उसे ऐसा जान पड़ा कि वह जिसका ध्यान कर रहा था वह हृदयसे

निकल भागा। भगवान्को हृदयमें न पाकर साधु व्याकुल हो उठा। इधर उधर खोजनेके लिए आँखें खोलीं और लो, उसके भगवान् एक अपूर्व, अभिनव वेशमें सामने ही खड़े मिले। इस बार उन्होंने मोहिनी मूर्ति धारण की थी। सामने एक स्त्री थी। साधु तरुण इस भगवान्के मनोहर रूपपर मुग्ध हो गया और चल पड़ा समाधि छोड़कर उसके पीछे पीछे।

इसी समय उसने देखा भगवान् फिर एक बार हृदयमें आ गये हैं, वह लौट पड़ा। पर यहाँ, भगवान् तो फिर उसी मोहिनीमें समा गये। अन्तमें अनुसरण ही श्रेष्ठ-पन्थ जान पड़ा। उस युवतीने समझा, आज भाग्य जगा जो महात्मा हमारे घर पधारे।

युवतीने पूछा 'क्या सेवा करूँ?' महात्माने कहा, 'दो तीक्ष्ण काँटे ले आओ।'

युवतीने तत्काल आज्ञा-पालन की। साधु बोला—

"देवि, तुम्हें क्या मालूम है मैंने इन पापी आँखोंको बद करके तुम्हें देखा है। मेरी विभोर वासना तुम्हारे इसी मुखकी ओर दौड़ पड़ी थी। उस समय तुम्हारे निर्मल हृदयरूपी आईनेमें मेरे कलुषनिःश्वासकी कुछ छाया पड़ी थी। लज्जाने सहसा आकर बदलकी भाँति रंगीन आवरणसे तुम्हारे मुखको इन लुब्ध नयनोंसे बचानेके लिए ढक लिया था। वह मेरी मोहमयी चचल लालसा काले भौंरेकी भाँति तुम्हारे दृष्टि-पथके चारों ओर क्या गुन-गुना रही थी?"

युवती कुछ समझ नहीं पाई। आश्चर्यसे उस तरुण साधुकी ओर ताकती रह गई।

---

१ श्रीरवीन्द्रनाथकी 'सूरदासेर प्रार्थना' कवितासे।

साधुने कहा—"लो[1], इन तीक्ष्ण काँटोंसे मेरी काली आँखें फोड़ दो। जिन आँखोंकी प्यास तुम्हारे लिये है, वे तुम्हारे ही हों।"

उस समय सन्ध्या-सूर्य आकाशके प्रान्त भागमें जा चुका था। युवतीके व्रीड़ा-रक्त कपोलोंपर सन्ध्याकी लाली पड़ कर उसे और भी गाढ कर रही थी। साधु एक बार फिर चंचल हो उठा—

"जरा ठहरो। समझ नहीं रहा हूँ। जरा सोच लेने दो। संसारको लुप्त कर देनेवाला यह चिर अन्धकार क्या सदा यों ही रहेगा? क्रमशः धीरे-धीरे उसमें तुम्हारी यह मधुर मूर्ति, पवित्र मुख और स्निग्ध आनत आँखें क्या फूट नहीं पड़ेंगी? इस समय जैसे देवीकी प्रतिमाकी भाँति खड़ी हो, स्थिर, गम्भीर करुण नयनोंसे मेरे हृदयकी ओर देख रही हो, वातायनसे सन्ध्या-किरण आकर तुम्हारे ललाट-देशपर पड़ी है। मेघोंका आलोक तुम्हारे निविड़कृष्ण केश-पाशपर विश्राम कर रहा है—तुम्हारी यह श्रान्तिरूपिणी मूर्ति, अति अपूर्व साजसे सज्जित होकर मेरी अनन्त रात्रिमें अनल-रेखाके रूपमें फूट उठेगी। तुम्हें घेरकर यह सन्ध्या चिरकाल तक जगी रहेगी और अपने आप तुम्हारे चारों ओर एक नया संसार उपस्थित होगा। यह वातायन (खिड़की), यह चम्पा-वृक्ष, वह दूरकी सरयू (यमुना[2]) की रेखा इस रात्रि-दिवसहीन अन्ध हृदयमें चिरकाल तक देखी जायगी। उस नये संसारमें काल-स्रोत न होगा, परिवर्तन भी न होगा। आजका यह दिन अनन्त होकर चिरकालके लिए जगा रहेगा। तुममें देखूँगा अपने देवताको

१-२ श्रीरवीन्द्रनाथकी 'सूरदासेर प्रार्थना' कवितासे।

विचार करना पानीपर लकीर खींचना है। जिन प्रतियोंको लेकर यह अध्ययन आरम्भ किया गया है वे इतनी अशुद्ध हैं कि जिसका कोई हद्दो-हिसाब नहीं। इसलिए हम सूर-सागरकी भाषाके काव्यांगपर ही विचार करना चाहते हैं।

गद्य और पद्यमें यह अन्तर है कि गद्यका लेखक स्वतन्त्र रहता है, पद्यका परतन्त्र। गद्य-लेखक चाहे जितने शब्दोंको और चाहे जितनी मात्राओंको काममें ला सकता है, पर पद्यका लेखक कुछ अक्षरों और मात्राओंसे अधिक या कमका व्यवहार नहीं कर सकता। गद्यका लेखक दुनियावी प्रयोजनोंको लक्ष्य करके लिखता है, उसका पराजय उस स्थानपर है जहाँ वह उस प्रयोजनको प्रकट करनेके लिए कम शब्दोंका प्रयोग करके अस्पष्ट कर दे या अधिक शब्दोंका प्रयोग करके निरर्थक। पद्यका लेखक यदि दुनियावी प्रयोजनको ही लक्ष्यमें रखता है (जैसे वैद्यक और ज्योतिष आदिके श्लोकरचयिता), तो वह एक व्यर्थका बंधन स्वीकार करता है। परन्तु अगर वह दुनियावी प्रयोजनोंसे ऊपर उठ जाय तो कवि हो जाता है। इसीलिए कवि सीमाबद्ध होकर भी प्रयोजनकी सीमासे कहीं दूर निकल जाता है।

मतलब यह कि जिसको लेकर दुनियाका कारबार चल रहा है वह अकविका लक्ष्य है, कविका लक्ष्य उससे कहीं ऊपर है। औरोंके लिए जो चीज नितान्त निष्प्रयोजन है, कवि उसी मामूली-सी चीजसे एक असीम वस्तुकी ओर संकेत करता है। अगर देखा जाय तो कुत्तेकी पूँछ उसका सबसे अधिक अनावश्यक अंग है, परन्तु कृतज्ञताके आनंदमें विभोर कुत्तेमेंका 'कवि-पुरुष' अपना असीम आनंद इसी निष्प्रयोजन अंगको हिलाकर प्रकट करता है। आँखोंका काम है देखना। दुनियावी प्रयोजनके लिए पुतलियोंको आँखोंके कोनेमें आनेकी बिलकुल

जरूरत नहीं। पर इसी अनावश्यक क्रिया—'कटाक्ष-पात'—से कवि एक अवाङ्मनोगोचर प्रेमको प्रकट करता है। कहनेका मतलब यह है कि कवि परतन्त्र जरूर है पर इस परतन्त्रताका वह इतना अच्छा प्रयोग करता है कि ससारका अद्वितीय आदर भाजन हो गया है। कविकी भाषाका उत्कर्ष देखना हो तो देखना चाहिए कि वह कितने कम शब्दोंमें, कितनी छोटी सीमामें बैठकर, किस असीमकी ओर इशारा कर सका है। 'काव्य प्रकाश'के शब्दोंमें उसके वाच्यार्थसे व्यग्यार्थ कितना अतिशायी हुआ है।

काव्यकी भाषाका दूसरा महत्त्वपूर्ण अग है उसका चित्रमय होना। साधारण मनुष्य जिस बातको नाना भाव भगियों, व्याख्याओं और सकेतोंका सहारा लेकर भी स्पष्ट नहीं कर पाता कवि उसे बडी आसानीसे एक साधारण-सी भगीमें प्रकट कर देता है। सूरदासमें ये दोनों गुण विद्यमान हैं। दूसरे गुणमें तो सूरदासकी समता ससारके कुछ ही कवि कर सकते हैं।

पहली बातके लिए सूर-सागरका एक पद उदाहरणार्थ लिया जाय। श्रीकृष्णने किसी गोपीके घर माखन चुरा कर खाया है, वह उलाहना देने यशोदाके घर आई है। कहती है, यशोदा, तेरे लड़ाने मेरा माखन खा लिया है। दोपहरको घर सूना जान कर ढूँढता-ढाँढता मेरे घर आया। किवाड़ खोल कर सींकेके पास खाटपर चढ गया, कुछ खाया, कुछ ढरकाया, कुछ दोस्तोंको खिलाया। यह तो अच्छी बात नहीं है। एक ही दिनकी बात रहती तो कोई बात नहीं थी, रोज ही गोरसका नुकसान होता है। अद्भुत है तुम्हारा यह ढोटा। अनोखा तुमने पूत जनमाया है।

तेरो लाल मेरो माखन खायौ।
दुपहर दिवस जानि घर सूनो ढूँढ़ि ढढ़ोरि आप ही आयौ।
खोलि किवार पैठि मंदिर में दूध दही सब सखनि खवायौ
सींके काढ़ि खाट चढ़ि मोहन कछु खायौ कछु लै ढरकायौ।
दिन प्रति हानि होत गोरस की यह ढोटा कौनैं ढंग लायौ
सूर स्याम कौं हटकि न राखै, तू ही पूत अनोखौ जायौ।

सारा पद सीधा-सा उलाहना है, पर यह प्रतिवेशिनीका द्वेषपूर्ण उलाहना नहीं है, यह प्रेम-परायणाका उलाहना है, जिसमें हृदयका स्पर्श है। उलाहना देते समय उलाहना देनेवालीकी आँखोंकी एक स्निग्ध हँसीका चित्र खिंच जाता है। वह अपना क्रोध प्रकट करने नहीं आई है, अपना प्यार जताने आई है। यह प्यार केवल एक शब्दसे ध्वनित होता है, 'पूत अनोखो जायौ।' पदके सारे शब्द प्रेमके विपरीत दिशाकी ओर संकेत करते हैं पर यह एक शब्द उन सबके भावको बदल देनेकी आश्चर्यजनक शक्ति रखता है। साधारण आदमी के उलाहनेमें अन्य शब्द नितान्त आवश्यक हैं, अनावश्यक है केवल यह 'अनोखौ' शब्द। पर सूरदासके लिए इस अनावश्यक शब्दमें ही सब कुछ है। इसी शब्दके आ जानेसे गोपीके सारे कथनका अर्थ बदल जाता है। वह मानों कह रही है, कितना अच्छा तुम्हारा लाल है जो रोज ही हमारे घरके दहीको धन्य कर जाता है।

मगर यहाँ तो फिर भी सूरदासने एक शब्दका प्रयोग किया है। प्राय वे कुछ भी नहीं कहते, केवल कुछ शब्दोंको इस भाँति रख देते हैं कि वाच्यार्थ कहींका कहीं पड़ा रह जाता है और व्यंग्यार्थ न जाने कितनी दूर निकल जाता है।

ब्रज घर-घर यह बात चलावत।
जसुमति कौ सुत करत अचगरी जमुना जल कोउ भरन न पावत।
स्याम-बरन नटवर वपु काछे मुरली राग मलार बजावत
कुंडल छबि रबि किरनहुँ तैं दुति मुकुट इंद्रधनुहू तैं भावत।
मानत काहु न करत अचगरी, गागर धरि जल भुँइ ढरकावत
सूर स्याम कौं मात पिता दोउ ऐसे ढंग आपुनहिं पढावत।

इस पदमें शिकायतके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। पर कहनेकी भगी ऐसी है कि सारे निंदावादका अर्थ हो जाता है, प्रेमकी चचलता,—'श्याम बरन नटवर वपु काछे मुरली राग मलार बजावत। कुण्डल छबि रवि किरनहुँ तैं दुति मुकुट इद्रधनुहू तैं भावत।'

चित्रमय भाषाके लिए तो सूर सागरकी एक-एक पक्ति उदाहरण है।

बिहरत हैं जमुना जल स्याम।
राजत हैं दोउ बाँहाजोरी दंपति अरु ब्रज-बाम।

* * *

नटवर वेष धरे ब्रज आवत।
मोर मुकुट मकराकृत कुंडल कुटिल अलक मुख पर छबि छावत।

और भी अच्छे उदाहरण हैं—

उमँगि चले दोउ नैन बिसाल।
सुनि सुनि यह संदेस स्याम घन, सुमिरि तुम्हारे गुन गोपाल।
आनन अरु उरजनि के अन्तर जलधारा बाढी तेहिं काल।
मनु जुग जलज सुमेरु-सृग तैं जाइ मिले सम ससिहिं सनाल।

* * * *

देखी मैं लोचन चुवत अचेत।
द्वार खड़ी इकटक मग जोवत ऊरध स्वास न लेत।

* * *

ठुमुक ठुमुक धरनी धर रेंगत जननी देखि दिखावै।

इत्यादि।

४ सूरदासकी विशेषताएँ

आरम्भसे ही हमारी इच्छा रही है कि इस अध्ययनमें सूरदासके विशेष दृष्टिकोणको स्पष्ट किया जाय। अध्ययनके अन्तमें हम एक बार फिर कर देखना चाहते हैं कि सूरदासकी विशेषताएँ क्या-क्या हैं। इस प्रसगमें एक बात यहाँ कह रखना अच्छा होगा। पिछले प्रकरणोंमें यह कहनेका अवसर ही नहीं मिला था कि सूरदास वैष्णवपद-रचयिताकी दृष्टिसे समस्त उत्तर पश्चिम भारतके अगुआ हैं।

१–सूरदासने जिस प्रकारके पद लिखे हैं वे हिन्दी-जगत्में बहुत नवीन न होते हुए भी एक विशेष नवीनता रखते हैं। नाथ और सहज-पथके सिद्धान्तोंके पुराने पद उपलब्ध हुए हैं। श्री हरप्रसाद शास्त्री प्रभृति बगाली पडितोंने इन पदोंको पुरानी बगलामें लिखित बताया है। श्री राहुल साकृत्यायन इन्हें मगही हिंदीमें लिखित बताते हैं। जो कुछ भी हो, ये पूर्व भारतसे सबध रखते हैं, इसमें सदेह नहीं। इन पदोंमें ससारकी अस्थिरता दिखाकर वैराग्य भावनापर जोर दिया गया है। हिन्दी-सन्त कबीर और नानकजीके आदि ग्रन्थमें रामानन्दका एक पद भी संगृहीत है। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक पुराने भक्तोंके पद भी उसमें आये हैं परन्तु अब तक इस प्रकारके पदोंका प्रयोग निर्गुण उपासक ही करते आ रहे थे।

सगुण लीलाके वर्णनार्थ किस कविने इस प्रकारके पदोंका प्रथम प्रयोग किया यह बात विवादास्पद है। अंग्रेज पंडित इस बातका श्रेय मैथिल कवि विद्यापतिको देते हैं। विद्यापतिके ही साम-सामयिक कवि चण्डीदासने भी इस प्रकारके पदोंका व्यवहार किया है। पर इसकी प्राचीनता और भी पुरानी सिद्ध होती है। संस्कृत कवि जयदेवके 'गीत गोविंद'के सम्बन्धमें कुछ विद्वानोंका कहना है कि वह पहले उस युगके अपभ्रंशमें लिखा गया था और पीछेसे संस्कृत कर दिया गया। यह बात ठीक हो या नहीं, इतना निश्चित है कि जयदेवसे भी पूर्ववर्ती कवि उमापतिने वैष्णव-लीला-गान करते समय इस प्रकारके पदोंका प्रयोग किया था। मेरा जहाँ तक जाना हुआ है उत्तर-पश्चिम भारतमें कृष्णलीला वर्णन करनेके लिए सूरदासने ही पहले पहल इनका प्रयोग किया। जो पद निर्गुण उपासनाको वहन करते आ रहे थे उसे सगुण-रससे सरस करना सूरदासका ही काम था।

२—सूरदासकी दूसरी विशेषता है उनकी बाल-लीलाका वर्णन। हिन्दीके कितने ही लब्धप्रतिष्ठ समालोचकोंको सन्देह है कि संसारके दूसरे कविने इस प्रकारकी लीलाका वर्णन किया है या नहीं। इन पंक्तियोंका लेखक संसारकी बात तो नहीं जानता—यह बहुत बड़ा है,—पर इस बातमें तो उसे भी सन्देह ही है कि भारतवर्ष—उत्तर भारतवर्षके—किसी वैष्णव कविने इतनी सफलतासे इस पूर्णताके साथ बाल-लीलाका चित्रण किया होगा।

३—परन्तु हम बाल-लीलासे भी बढ़कर जो गुण सूरदासमें पाते हैं वह है उनका मातृ-हृदय चित्रण। माताके कोमल हृदयमें पैठनेकी अद्भुत शक्ति है इस अन्धेमें।

४–और मातृ-हृदयके चित्रणमें सूरदासको जो सफलता मिली है वह उनकी 'प्रेमकी विराट् कल्पना'के कारण है। सूरदासने एक अलौकिक प्रेमकी कल्पना की है जो मिलनमें सोलह आना मिलन और वियोगमें सोलह आना वियोगके रूपमें देखा जाता है। यह एक ही प्रेम यशोदामें एक रूप धारण कर गया है, राधिकामें दूसरा, ग्वालबालोंमें तीसरा, रुक्मिणीमें चौथा और गोपियोंमें और-और। यह प्रेम प्रकृतिसे मृदु है, पर है सारवान्, यह काचन पद्मधर्मी है। कालिदासके शब्दोंमें—
द्धुन वपु काचनपद्मधारयन् मृदुप्रकृत्या च ससारमेव च।

५–यह बात पहले ही दिखाई गई है कि सूरदास वैष्णव आलङ्कारिकोंके बन्धनमें नहीं बँधे। वे भागवतके सोलह आना अनुयायी भी नहीं हुए। उनका अपना विशेष व्यक्तित्व सर्वत्र दिखाई देता है।

६–वल्लभाचार्यके शिष्य होकर भी सूरदास अन्य भक्तोंकी नाईं बारबार गुरुका नाम लेकर जमुहाई नहीं लेते रहे। महाप्रभु वल्लभाचार्यने उन्हें लीला-गान करनेका उपदेश दिया और उन्होंने सच्चे शिष्यकी भाँति इस उपदेशको आजीवनके लिए सिर माथे उठा लिया।

कथा [1] है कि जब श्री सूरदासजीने 'जान्यो कि भगवदिच्छा ते अवसान समै है' तो पारसोली गये। वहाँ यह जानकर कि 'पुस्टी मारग को जिहाज जात है जा को जो लेनो होय सो लेउ' भक्तगण उनके निकट एकत्र हुए। 'तब चतुर्भुजदासने कह्यो जो सूरदासजीने बहुत भगवद् जस वर्णन कीयो पर श्री आचार्यजी महाप्रभूनको जस वर्णन नाहीं कीयो। तब यह बचन सुनि कै सूरदास बोले जो मैं तो सब श्री आचार्य जू महाप्रभूको ही जस वर्णन कीयों है। देखूँ तो न्यारो

१ चौरासी वैष्णवोंकी वार्ता।

करूँ, परि तेरे साथ कहत हो या भाति कहि के सूरदासजूने एक पद कह्यौ। सो पद—(राग विहागरो)

> भरौसो दृढ़ इन चरनन केरौ।
> श्री वल्लभ नख चन्द्र छटा बिनु सब जग माँझि अँधेरौ।
> साधन और नहीं या कलिमें जा सों होत निबेरौ
> सूर कहा कहि दुविध आँधरौ बिना मोलको चेरौ।

सचमुच सूरदासने कुछ भी गुरुके उपदेशसे न्यारा करके नहीं देखा।

७—यह दिखानेके लिए पिछले प्रकरणोंमें कुछ प्रयत्न किया गया है कि सरदासकी दीनता, आत्म-समर्पण, वैराग्य-भावना और पाप-बोधके साथ ईसाई मरमी सन्तोंकी इन भावनाओंकी तुलना असगत है। दोनों दो चीज हैं।

८—सबसे बड़ी विशेता सूरदासकी यह है कि उन्होंने एक इतःपूर्व काव्यमें अप्रयुक्त भाषाको इतना सुन्दर मधुर और आकर्षक बना दिया कि लगभग चार सौ वर्षों तक उत्तर पश्चिम भारतकी कविताका सारा राग-विराग, प्रेम प्रतीति, भजन-भाव उसी भाषाके द्वारा अभिव्यक्त हुआ।

९—अन्तिम विशेषता, जिसे सूरदास, कबीरदास और तुलसीदासने आत्मसात् किया है, अनोखी-सी है। यह विशेषता है सामान्य होना। ये महात्मा गण भारतीय जनतामें ऐसे घुल मिल गये हैं जैसे कभी अलग व्यक्तित्व ही न रखते हों।

परिशिष्ट

(१)

८—व्रज-भाषा-साहित्यमें ईश्वर

यह युग विश्लेषका युग है। बहुतसे लोग यह सुन कर कह उठेंगे कि 'हर्गिज नहीं, यह युग सामूहिक समुत्थानका है।' वस्तुत वर्तमान युगका समूह संघात विश्लेषसे भी गया गुजरा है। एक युग था जब एक देशकी चिन्ता धारा और साधना-पद्धति अनायास ही दूसरे देशकी अपनी चीज हो जाती थी। उन दिनों न तो प्रोपेगैण्डा ही था और न इसके साधन ही। फिर भी लोग सहज भावसे दूसरोंकी विशेषता ग्रहण कर लेते थे। पर आज राष्ट्रीयताकी लहर इतनी तेज है कि हम किसी भी विदेशी वस्तुको बिना सदेह और शंकाकी दृष्टिसे देखे नहीं रहते। देशकी चहारदीवारी पार करके यह सकीर्णता 'काल' में पहुँच चुकी है। एक स्वदेश-प्रेमी अँग्रेज भारतीय चित्र-कलाकी सुन्दरतापर तब तक मुग्ध होना नहीं चाहता, जब तक उसमें ग्रीक या रोमन प्रभावका प्रमाण न मिल जाय। यहाँ तक तो खैर है, पर मामला और भी पेचीदा हो जाता है जब हम ग्रीस या इजिप्टकी कलामें उसी प्रकारकी नैतिकता, जैसी इस युगमें है, नहीं पाकर नाक भौं सिकोड़ने लगते हैं। एक अँग्रेज पडितने ग्रीक-कलाकारोंके बारेमें कहा था कि " ग्रीकचित्त किसी प्रकारकी सृष्टिसे तृप्त नहीं होता था, जब तक कि उसे मनुष्यके आकार या भावोंमेंसे होकर न गुजरना पड़े। प्राचीन कवियोंने जड़ प्रकृतिकी वास्तविक रूपमें कभी व्याख्या नहीं की। उन्होंने

खेतोंमें या मेघपुजोंमें आध्यात्मिकताका आरोप कभी नहीं किया।" पर इसीलिए अगर कोई ग्रीक-काव्यमें रस न पावे तो उपाय क्या है ? ग्रीक-कवियोंके सम्बन्धमें इस अँग्रेज पडितने जो कुछ कहा है, वही बात ब्रज भाषाके कवियोंके बारेमें कही जा सकती है। उसमें इतना और जोड़ दिया जा सकता है कि ब्रज भाषा-कविकी सम्पूर्ण तृप्ति तब होगी जब वह इस मानव भावनाको कृष्ण या राधामें पर्यवसित कर दे।

ब्रज भाषाका कवि एक विचित्र रहस्य-मय व्यक्ति है। वह अपने मनोभावोको राधा और कृष्ण या गोपी और गोपालके रूपमें इस प्रकार प्रकट करेगा मानों वह इस व्यापारमें एक तटस्थ साक्षीके अतिरिक्त कुछ नहीं है। उसकी साधनामें व्यक्तिका कुछ महत्त्व नहीं है, पर ससारके अन्य कवियोंके नियमके प्रतिकूल अपनी प्रत्येक कवितामें अपना नाम इस सावधानी और सतर्कतासे रख देगा मानों उसके व्यक्तित्वका न होना किसी भारी अपूर्णताका द्योतक है। उसके कृष्ण जिस प्रकार अनादि अनन्त होकर भी व्यक्तित्वकी अवहेलना नहीं करते, वह भी उसी प्रकार पूर्ण तटस्थ होकर भी अपने व्यक्तित्वका मोह नहीं त्याग सकता। ब्रज-भाषाके कविके इस मनोभावके समझनेके लिए सस्कृत वाङ्मयके अलकार-शास्त्रपर एक सरसरी निगाह दौड़ाये बिना काम नहीं चलेगा।

सस्कृत-अलकार शास्त्रकी प्रारम्भमें दो शाखाएँ थीं। एकमें तो नाटकके रस और उसके आलम्बन, नायक-नायिकाओंकी विवेचना और दूसरेमें संस्कृतके फुटकर श्लोकोंके अलकारोंकी समीक्षा हुआ करती थी। बादको ये दोनों धाराएँ एकमें मिल गईं। इसी समय ध्वनिसम्प्रदायका प्रादुर्भाव हुआ। ध्वनि या व्यग्य-अर्थको समझनेके लिए शब्दकी तीन शक्तियोंको समझना आवश्यक है। ये तीन शक्तियाँ हैं—अभिधा, लक्षणा और

जोसेफको मोटे लबादेमें और विर्जिन (Virgin) के सिरको तुर्की शाल्से सुसज्जित रूपमें क्या कल्पना की जा सकती है?" फिर भी प्राचीन चित्रकारोंने बाइबिलके समस्त उपाख्यानोंके चित्रको अपने युगकी पोशाकमें ही अंकित किया।

व्रजभाषाके कवियोंने भी युगल-मूर्तिको अपने युगकी भाव भाषामें अङ्कित किया है। इस बातके लिए आप उनको दोषी नहीं ठहरा सकते। आज ज्ञानका प्रकाश सुदूर अतीत तक पहुँच सका है। आप खूब निपुण भावसे रामायणके युगके रामको अंकित कीजिए, पर भूल न जाइए कि आपकी यह कला विश्लेष युगकी कला है, इसमें ज्ञानकी उज्ज्वलता है पर साधनाकी गम्भीरता नहीं। भारतवर्षमें जो साधना शताब्दियों पर शताब्दियोंकी संघट्टनासे अजन्ता और ताजमहलकी रचना कर सकी है, वही साधना साहित्यके रूपमें भी गठित हो उठी है। इस गठनमें अपने युगकी छाप है। इस छापके लिए आप किसीको दोषी नहीं ठहरा सकते।

हमने एक बार कहा था कि व्रजभाषाका शृंगार साहित्य निरपेक्ष साहित्य है। अर्थात् व्रजभाषाका कवि कविता लिखकर निश्चिन्त हो जाता है। उसे इस बातके सोचनेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती कि समाज इस कवितासे बनेगा या बिगड़ेगा। यद्यपि वह आजके कवियोंकी भाँति चिल्लाता नहीं कि 'कला कलाके लिए है' पर वह अपनेको बहुत कुछ इस सिद्धान्तका पोषक ही प्रकट करता है। केशवदासने जिस दिन चन्द्रवदनियोंके बाबा कहने पर अपने सफेद बालोंको कोसा था, उस दिन उन्हें स्वप्नमें भी यह खयाल नहीं था कि कितनी मृगलोचनीके लोचन इस कवितापर पड़ेंगे। निरपेक्ष भावसे यह साहित्य राधिका और कृष्णको अपना प्रेम समर्पण करता है।

आजके युगमें और उस युगमें बड़ा अन्तर है। उस युगका कवि एक पूर्वनिर्णीत नियमको श्रद्धापूर्वक स्वीकार कर अपनी रचना करता है। वह अपनी प्रतिभाके दर्पणमें अपने आपको नूतन रूपमें देखनेकी चेष्टा नहीं करता। प्राचीनताका सदा सनातन सत्यके रूपमें स्वीकार करके वह अपना ससार आरम्भ करता है। आजका कवि अपनेको नित्य नूतन रूपमें प्रकट करनेके लिए व्याकुल है। वह एक सकीर्ण सीमा तैयार करता है, दूसरे ही क्षण उसे तोड कर दूसरी सीमाकी रचनामें व्यस्त हो जाता है। सीमाकी इस अनवरत भजन-लीलाको वह नित्य नूतन समझने लगता हे। यही कारण है कि वर्तमान युगके अस्त-व्यस्त काव्य-समूहमें एक अनवरत धाराका अभाव है। इसे एक धारा कहना ही अनुचित है। एक पडितका कथन है कि " निश्लेषका यह युग नाना विक्षोभ और समस्याओंसे होकर गुजर रहा है। सब मिलकर एक बड़ी चीजको गढ़ लेना या समन्वयकी चेष्टा इस युगमें नहीं देख पडती। योरपमें वर्तमान कलाके बहुमुखी सौन्दर्यको देख कर निश्चय ही विस्मित होना पड़ता है पर यह कहना कठिन है कि अतीत और वर्तमान, सनातन और सामाजिकके भीतर समन्वयकी एक चेष्टा न देख कर चित्तमें क्षोभ नहीं होता।" ब्रजभाषाके कवियोंने इस समन्वयके महत्त्वको समझा था। आप सूरदाससे पद्माकर तकका ब्रज-साहित्य देख जाइए, उसमें एक योग-सूत्र पायेंगे, एक मर्यादाकी प्रतिष्ठा देखेंगे। इस योग-सूत्रका प्रधान आलम्बन है, युगल-मूर्ति।

वर्तमान युगकी कविताकी सबसे बड़ी समस्या है, इस योग-सूत्रका अभाव। इस यन्त्र-युगमें एक दशाब्दी पहलेकी चिन्ताधाराके साथ आजकी चिन्ताधाराका योग-निर्वाह करने-करानेकी फुरसत किसीको नहीं। इसका भयानक परिणाम यह हुआ कि सौ सवा-सौ वर्ष तक किसी एक चिन्ताधाराको जीवित देखकर वर्तमान समालोचक काँप

उठता है। उसमें एकधृष्टताकी गन्ध आने लगती है। वह न ग्रीक कविताकी प्रशंसा कर पाता है और न ब्रज-साहित्यकी माधुरीपर मुग्ध हो सकता है। मगर मजा यह है कि यह कभी-कभी इस प्रकारके साहित्यमें वर्तमान युगकी फिलासफीका ऐसा प्रकाश पाता है कि आकाश पाताल एक कर देता है। ब्रज भाषाके विपुल साहित्यमें श्रीकृष्ण और राधा-रानीकी अनन्त माधुर्य-लीला तो है पर उसमें किसी आध्यात्मिक तत्त्वका निर्णय नहीं किया गया है। जो आलोचक उसमें आध्यात्मिकता पाते हैं उनकी बात हमारी समझमें नहीं आती। जो खोजते हैं, उनकी चेष्टाका सफल होना असंभव जान पड़ता है। फिर भी ब्रजभाषाका घोर शृङ्गारी कवि यह कभी नहीं भूलता कि उनकी वर्णित लौकिक लीला किसी अति प्राकृतकी लीला है। ब्रजभाषाकी कवितामें यही विशेषता है जो उसे संसारके साहित्यसे अलग कर देती है। बंगालके वैष्णव कवियोंमें यह भाव है और आश्चर्य यह है कि इस प्रकारके साहित्यकी भाषाको बंगालमें भी 'ब्रज बूलि' या ब्रजभाषा कहते हैं। मानों इस मधुर और विचित्र साहित्यका 'ब्रजभाषा साहित्य'के अतिरिक्त और कुछ नाम ही नहीं दिया जा सकता।

अति प्राकृतमें प्राकृत सौन्दर्य, सीमाहीनमें ससीम माधुर्य और अन्तहीनमें सान्त भाव देखना ही इस कविकी साधना है। इसको यह अपने आप अनायास कर जाता है। क्योंकि वह उसी रंगमें रंग गया है।

भाषा कविताका वाहन है। ब्रजके कवियोंने इस भाषाको ऐसा माँजा है कि वह जो कुछ भी कहता है, उसमें न जाने कहाँसे युगल मूर्तिका शुभागमन हो जाता है। मध्ययुगमें संगीतके उत्कर्षके समय मुसल्मान उस्तादोंने जो गान बनाये उनमें राधा माधव जरूर आ जाते हैं।

इस प्रकारकी भाषा सृष्ट हो गई कि लोग उसका अर्थ समझनेकी कोशिश किये बिना भी झूमने लगते हैं। पर जिन लोगोंने उस भाषाके 'जादू भरे उद्यान' में पैर रखनेकी कोशिश कभी भूलकर भी नहीं की वे कृष्ण और राधाकी इस प्रेम-मुखर भाषामें ईश्वरकी दुर्दशाका आभास पाने लगते हैं। उपाय क्या है।

ब्रजभाषाकी कवितामें कुछ विदेशी विलासिताका अस्तित्व भी है बहुत संभव है, उसकी आमदनी मुसलमानी संसर्गसे हुई हो, पर इस प्रकारकी विलासितामें कवि राधा-कृष्णको कभी नहीं घसीटता। ऐसी विलासिता हमारे आलोच्य विषयके परे है। हम उसकी चर्चा यहाँ नहीं करेंगे।

यहाँ इस प्रकारकी भी विलासिता राधा-कृष्ण और गोपियोंके नामपर आ घुसी है कि उसे अनुचित कहनेको जी चाहता है। प्रस्तुत प्रबंध शृंगार-रसके नामपर की गई अश्लील कविताओंकी वकालत करनेके लिए नहीं लिखा जा रहा है। आलोच्य विषय केवल ब्रजभाषा-काव्यका ईश्वर है। इसलिए ही हम इस प्रकरणकी अवतारणा कर रहे हैं।

ब्रजभाषाके युगमें, हमने अब तक देखा है कि इस प्रकारकी प्रवृत्ति आ गई थी कि कविगण तटस्थ रूपसे अपनी सारी हँसी-खेल क्रीडा-कौतूहल युगल-मूर्तिमें पर्यवसित कर दें। कवियोंने इस प्रकारके भाव-चित्रणमें अद्भुत सफलता पाई, रसिकोंने इस कविताका काफी सम्मान किया। ऐसा साहसी व्यक्ति शायद ही हो जो सूरदास या नन्ददासके ऊपर [जिन्हें ग्रियर्सनके मध्य-युगीय मरमियों (Mystics) के Bernord Cl irvanx कहा है] भ्रष्टाचार फैलानेका अभियोग लगावे। परन्तु सूरदासकी कवितामें राधा और कृष्णकी प्रेम-लीलाका साम्राज्य है।

नन्ददास भी इस प्रेम-लीलाकी मस्तीमें ही विभोर रहे। इधर गृहस्थ शृंगारी कवियोंकी तो गिनती ही नहीं।

यह सारी कविता स्पष्ट है। सौन्दर्यको ठोस रूपमें उपलब्ध करनेका परिणाम यह हुआ है कि उसमें किसी रहस्य भावना या आध्यात्मिक रूपकका प्रभाव नहीं है। शेली या वर्ड्स्वर्थके समान विशुद्ध प्रकृतिका प्रेम व्रजभाषाके कवियोंमें ढूँढनेपर भी नहीं मिलेगा, मिलेगी ससीमकी लीला—मिलेगी सान्तकी क्रीडा। तन्त्र-साधनाके उस आदर्शने जिसमें सीमाको असीमकी उपलब्धिका कारण बताया गया है, व्रजभाषाके कवियोंको बड़ी दूर तक प्रभावित किया था। उसी माधुर्यके फलस्वरूप विष्णुका आसन कृष्णके नीचे हो गया। गोलोकमें सिवा कृष्णके पुरुषका अस्तित्व जाता रहा। कृष्णके प्रेमी राधिकाकी सखी हो गये। उस सख्य भावसे वह युग प्लावित हो उठा था।

श्रीकृष्णके सम्बन्धमें की गई अनेक शृंगारी कविताओंमें गोलोककी भावनाने यथेष्ट पुष्टि प्रदान की है। श्रीकृष्ण ही एक मात्र पुरुष हैं, बाकी सब राधा रानीकी सेविकाएँ, सखियाँ, फिर संकोच काहेका, व्यवधान कैसा ? एक दूसरे प्रकारके भक्त थे जो अपनेको श्रीकृष्णका सखा समझते थे। इन्हें भी अपने रसीले मित्रकी रहस्यमयी कथाओंको खुल कर गानेका अधिकार था। यह सब होते हुए भी व्रजभाषाका कवि केवल तटस्थ साक्षी है। सखियाँ आकर कृष्ण और राधाके मिलन-विरहको नाना भाव-भंगीसे प्रकट कर जाती हैं और श्रीकृष्णके सखा या 'राधा ठकुराइन' की सखी हमारे कवि, कठपुतलीके नाचके सूत्रधारकी भाँति, केवल सूत्र खींचा करते हैं। अपना नाम शायद वे साक्षी रूपमें रख देते हैं। इस प्रकारके सापेक्ष-निरपेक्ष द्वन्द्वसे कवि एक विचित्र सौन्दर्यकी सृष्टि तन्मय भावसे करता जाता है। भक्तिके

प्रवाहमें बहते समय भी वह तटस्थ है और शृंगारके सरोवरमें स्नान करते समय भी तटस्थ है। इस मनोभावको आप विचित्र कहना चाहें कहें, पर है यह अनुपम।

इसी मनोभावके साथ कवियोंने ब्रजभाषा-साहित्यकी सृष्टि की है। अब अगर इस विविध विचित्रता-युक्त मनोभावको बिना समझे कोई इस काव्य-काननमें प्रवेश करेगा तो वह बार-बार प्रश्न करेगा कि जिन्हें परम ब्रह्म समझा जाता है उनके नामके साथ क्या कारण है कि हिन्दीके कवि धृष्टताके साथ इस तरहका दुर्व्यवहार बराबर करते रहे हैं? समाजके इस नैतिक पतनका क्या कारण है? इस तरहके साहित्यके प्रचारसे समाजका उत्थान होना कैसे संभव है? हमारे जातीय या धार्मिक विकासमें किन कारणोंसे यह घृणित प्रवृत्ति आ गई? और यदि आ भी गई तो क्या कारण है कि इसके मूलोच्छेदनकी चेष्टा समाजने नहीं की? ये और इसी प्रकारके सैकड़ों प्रश्न उठेंगे। वह आश्चर्यसे समाजकी इस महन शक्ति—नहीं-नहीं, भक्ति-प्रवणताको देखेगा।

पर उस युगका समाज—यह समाज अब भी लुप्त नहीं हो गया है—सौभाग्यवश, कवियोंके अनुकूल था। श्रीकृष्णके ज्ञान-भक्ति-कर्मके पूर्ण रूपमें उसने उस माधुर्यको हृदयगम करनेमें किसी प्रकारकी बाधाका अनुभव नहीं किया जिसे तात्कालिक कवियोंने समाजको दान किया था। श्रीकृष्णके उस रस-मय विचित्र रूपपर उस समाजकी प्रेम-भक्ति केन्द्रित हो गई थी। कृष्ण और राधा उनकी अपनी चीज हो गये थे, और हैं। कृष्ण उनके साथ गाय दुहा करते थे, विरहा गाया करते थे, होली खेला करते थे, झूलेमें साथ ही झूला करते थे और उसके सभी प्रीति-स्निग्ध कार्योंको अपनी मधुर वशीसे प्लावित

कर देते थे। राधा भी दूर नहीं थीं। नवोढाके वासक-शयनोंपर वे फूल चुन दिया करती थीं, आगमिष्यत-पतिकाके साथ वे प्रतीक्षा-पथपर आँखें बिछा देती थीं, विरहिणीके साथ वे आँसूकी धारासे दिन और रात एक कर देती थीं, कुमारीकी मदिर आँखोंमें नटनागरकी 'कला-बाजी-सी करति' आँखोंको मिला देती थीं, सखियोंके मिलन-मधुर हास्यमें वे अमृत ढाल देती थीं—फिर भी राधा और कृष्ण परम शक्ति और परम पुरुष थे! इतने नजदीक अथ च इतने निराट्! जब तक समाजकी इस मनोवृत्तिको आप नहीं समझेंगे, आप उसी तरह चकित भावसे पूछ बैठेंगे—'और यदि (यह घृणित प्रवृत्ति) आ भी गई, तो क्या कारण है कि समाजने इसके मूलोच्छेदकी चेष्टा नहीं की' समाज आपके प्रश्नको सुनकर भीत भावसे पूछ बैठेगा—कौन-सी घृणित प्रवृत्ति? कैसा मूलोच्छेद?

असल बात यह है कि उन्नीसवीं शताब्दीके बादसे हमारे नव-विचार-परायण पण्डितोंके हृदयमें जहाँ तर्ककी आग जल उठी है वहाँ श्रद्धा भस्म हो गई है। 'आर्ट ओ आहिताग्नि' ग्रन्थके प्रणेता श्री यामिनीकान्त सेनने गेटेसे एक अंश उद्धृत किया है जिसमें कहा गया है कि "आजका तरुण युवक कहता है—मैं किसी कला सम्प्रदायका शिष्य नहीं हूँ। इस युगमें कोई ऐसा जीवित मास्टर नहीं है जिससे मैंने कुछ सीखा हो। मृत व्यक्तियोंसे तो मैंने कभी कुछ सीखा ही नहीं। इस युगका तारुण्य श्रद्धाच्युत हो गया है।" आज हम बीसवीं सदीके भारतीय तरुण गेटेके कथनके उदाहरण हैं। अश्रद्धा भावसे हम किसी साहित्यका ज्ञान-सम्पादन करते हैं, समीक्षा करते हैं, बुरा या भला होनेका फतवा देते हैं और कल्पना कर लेते हैं कि उक्त साहित्यका उपजीव्य समाज हमारे ही जैसा तर्कपरायण और अश्रद्धावान् था।

आगे हम ब्रजभाषा-साहित्यके ईश्वरका जो विचार करेंगे उसके लिए उसी ईश्वरकी—एक बात कह देना चाहते हैं—

'हे परन्तप ! इस धर्मपर श्रद्धा नहीं रखनेवाले पुरुष मुझे न पाकर फिरसे इस मरणधर्मा ससार मर्गमें लौट आते हैं।" (-गी० ९-३)

(२)

ब्रजभाषाके कवि और युगल मूर्ति

"टेरि कहौं सिगरे ब्रज लोगनि,
काल्हि कोऊ कितनो समुझैहैं।
माइ री वा मुख की मुसुकानि,
सम्हारि न जैहैं न जैहैं न जैहैं।"

—रसखान

"कवि ठाकुर प्रीति करी है गुपाल सों,
टेरि कहौं सुनो ऊँचे गले।
हमैं नीकी लगी सो करी हमने,
तुम्हें नीकी लगै न लगै तो भले।"

—ठाकुर

यही हैं ब्रज भाषाके मधुर कृष्ण। जरूरत समझो ईश्वर कहो, न समझो, मनुष्य कहो। कविका इससे कुछ बनता विगडता नहीं। अपने प्रशस्त प्रेमके विपुलायत राजमार्गपर वह निर्द्वन्द्व, निर्भय और शान्त भावसे अग्रसर हो रहा है। तन्मयताके मधुर गीतको मानव-चरित्रकी ससीम मर्यादामें प्रतिबद्ध रखकर वह अनन्तकी ओर छूट चला है। उसके भगवान् तटस्थकी भाँति कहीं बैठे नहीं हैं। उसीके साथ प्रेमके नाना कल-कल्लोलोंसे उसके मनोमन्दिरको मुखरित करके उसीके साथ खेल

रहे हैं। संसारमें जिस प्रकार स्त्री अपने लौकिक प्रेमको पतिके साथ केंद्रित करके बाकी जगत्‌का अपने शुद्ध प्रेमसे सिंचन करती है—उसी प्रकार यह कवि अपना लौकिक प्रेम मनमोहनपर केन्द्रित करके शेष ससारको अपने प्रेमसे प्लावित कर रहा है। उसके मोहन प्राकृत ही हैं, कुछ अति-प्राकृत नहीं। प्रेम लौकिक ही है अलौकिक नहीं। पर लौकिक पेमके निशुद्व स्वरूपमें अति-प्राकृतके अलौकिक प्रेमकी सत्ता रहती है। ससारमें हम अनन्त सत्यको ग्रहण नहीं कर सकते। सान्तका यथार्थ ज्ञान हमें अनन्त सत्यकी ओर उन्मुख कर देता है। अगर हमारी शक्ति अल्प है तो हमारा सान्त भी छोटा होना चाहिए। जितना ही वह छोटा होगा उतनी ही अधिक पूर्णताके साथ हम उसका ज्ञान प्राप्त करेंगे। हमारा ज्ञान जितना पूर्ण होगा, जितना यथार्थ होगा, उतना ही हम अनन्त सत्यका अनुभव कर सकेंगे। ब्रज-भाषाका कवि इस रहस्यको समझता है। उसने अपने प्रेमका दायरा संकीर्ण कर लिया है। यह सकीर्णता विशालताकी उपलब्धिके लिए है। नदीमें जल अगर कम हो तो उसके दोनों कूलोंका सटा-सा रहना उसके प्रवाहको अधिक निर्वाध और प्रखर कर देता है। सकीर्णतासे गम्भीरता आती है, गम्भीरतासे शाश्वत रस।

ब्रज भाषाके कवियोंके इस रहस्यको अगर नहीं समझेंगे तो आपका मन नाना प्रश्नोंकी कुहेलिकामें मार्ग भूल जायगा। ब्रज-गोप गोपिकाओंकी विरह लीला, मिलन वैभव, रहस्य-केलि और उपालभमें वह उस प्रेमके रूपका यथार्थ परिचय पाता है जो सहजगम्य है और जिससे सीमाहीन माधुर्यका साक्षात्कार होता है। इसकी परिधि संकीर्ण है, होने दो, लौकिक है, कुछ चिंता नहीं। मगर देखो, उसमें यथार्थता है या नहीं। अगर क्षुद्रकी ही सत्य उपलब्धि हो सकी है तो काम हो

चुका है। जरूरत नहीं कि विशाल विषयोंका जाल बिछा कर बैठें और हाथ कुछ भी न लगे।

ईश्वर क्या है? संयमका लक्ष्य? उपासनाका उपजीव्य? ज्ञानका आश्रय? नेति, नेति, नेति!

ईश्वर क्या नहीं है? शृङ्गार-रसका वह प्रेम जिसे नैतिकताके लक्षणोंमें नहीं ले आया जा सकता, देव, बिहारी, मतिरामकी वे बातें, जिन्हें अश्लील कहनेका प्रयत्न किया गया है, ब्रज-बालाओंके मादक विरहका आश्रय, राधाका प्रेमी, सूरदासका श्याम क्या है? नेति, नेति, नेति!

वह क्या बात है जिसके होने या न होनेसे ईश्वरका होना या न होना, सम्मानित या अपमानित होना निर्भर है? किस रास्तेसे ईश्वरके मन्दिर तक जाया जा सकता है? किससे नहीं? ब्रज-भाषाका कवि इन प्रश्नोंकी निस्सारताको समझता है। उसे खूब मालूम है—'बेदम-से वेद-मत-वारे मतवारे परे!' उसे सीधा सहज मार्ग मालूम है—प्रेम।

तत्त्ववादके इस विकट युगमें प्रेमकी बड़ी खींचातानी हुई है। ब्रजभाषी कवि इन दुरूहताओंको नहीं जानता। उसका प्रेम स्फटिककी भाँति उज्ज्वल है, उसीकी तरह ठोस। अध्यात्मवादकी विकट गुत्थियोंको सुलझानेका प्रयत्न उसने किसी दिन नहीं किया। उसकी प्रेम-धारा विशाल नद नहीं है, सकीर्ण नाला है, पर गम्भीर तेजपूर्ण। उसे इसका अभिमान है। वह अपने मार्गमें निर्भीक भावसे प्रेमकी मशाल लिये बढ़ रहा है—

> "कवि ठाकुर प्रीति करी है गुपाल सों,
> टेरि कहौं सुनो ऊँचे गले!"

कितनी दृढ़ है यह निष्ठा! मानों वह वर्तमान युगके कविके कण्ठमें कण्ठ मिला कर कहना चाहता है—

" वैराग्य-साधनामें मुक्ति है, हम इस मुक्तिको नहीं चाहते। असंख्य बंधनोंमें रहकर महा आनन्दमय मुक्तिका स्वाद लेंगे। इस पृथ्वीकी मिट्टीके पात्रको वारम्वार भर कर (हमारी यह महा आनन्दमय मुक्ति) तुम्हारे नाना वर्ण और गन्धको अविरत ढाला करेगी, समस्त संसारको प्रदीपकी नाईं लाख-लाख वर्तिकाओंमें जल कर प्रकाशित कर देगी। "

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर, नैवेद्य

वैराग्यके विपुल भारसे जर्जर इस देशके अन्तस्तलमें सहज प्रेमकी निष्ठाको प्रज्वलित किया है, इन व्रज-भाषाके कवियोंने। कैसा वैराग्य, कैसा योग? शत शत गोपियोंके कल-कंठसे योग-साधनाके विरुद्ध अधिकारपूर्ण बातें भारतवर्षमें अगर सुननेको मिली हैं तो युगलमूर्तिके प्रेममें मतवाले इन कवियोंकी कृपासे। कहाँ है विरहका यह उमड़ता हुआ स्रोत अन्यत्र? इस विशाल विरह-वेदनापर शत शत ' मेघदूत ' न्यौछावर हैं, हजार-हजार ताजमहल निसार हैं। इसी विपुल समुद्रको ईश्वरका अपमान कहते हैं आप? कहिए। पर भूल न जाइए कि मध्य-युगका ईश्वर आजका ईश्वर नहीं है। एक तरफ हैं सहस्राधिक सम्प्रदायोंके साधुओंके उपास्य नीरस, निष्काम, निर्गुण ईश्वर और दूसरी तरफ है यह प्रेमका उद्गम, माधुर्यकी सरिता, भक्तिका समुद्र, सौन्दर्यका सर्वस्व, राधा-माधवकी युगल-मूर्ति। आपको पसंद हो तो पहलेको लेकर वैराग्य-साधना कीजिए। व्रज भाषाके कवियों और रसिकोंको वह पसद नहीं। योगकी साधना व्यर्थ है उनके लिए। वे साफ कहते हैं—

" जिन जान्यौ जोग सौ जोग लै जरि मरौ ! "

—देव

उद्धवको गोपियोंने जो संदेशा दिया है, वह इतना साफ है कि उसमें आध्यात्मिक गूढताओंका ढूँढना बेकार है। मगर उस विशाल प्रेम-वेदनाके अध्यात्महीन होनेसे अध्यात्मका जगत् इतना निकट आ जाता है कि आश्चर्य होता है। 'मेघदूतके' अमर संगीतका सौन्दर्य क्या है? विराट् मानवका सनातन विरह। युग-युगान्तरका पुंजीभूत विरह प्रतिनिधि कविके कंठमें शाश्वत रूप धारण कर गया। ताज-महलका सौन्दर्य कहाँ है? पत्थरोंमें? होगा, पर वास्तविक सौन्दर्य उसका है, उस शाश्वत विरहमें। प्रेमी हृदयके उच्छ्वास ही पाषाणसे फूटकर सौन्दर्यका रूप धारण कर चुके हैं। और ब्रजकी इन गोपियोंके मादक विरहका सौन्दर्य कहाँ है? गोपियोंमें? उद्धवमें? नहीं। उसका सौन्दर्य उसी मधुर कल्पनामें है जिसने वासुदेव देवकीपुत्र कृष्णको आनन्दकन्द मनमोहनके रूपमें उपस्थित किया है, जिसने प्रेमकी साक्षात् मूर्ति इन आभीर कन्याओंकी सृष्टि की है। कितनी विराट् कल्पना है, पर कितनी कोमल!—

"जाहि अनादि अनंत अखंड
अछेद अभेद सु बेद बतावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ
छछिया भरि छाँछ पै नाच नचावैं।"

इसे अध्यात्मवाद कहना चाहते हैं? एक यूरोपियन कलाके मर्मज्ञका कहना है कि "योरपका आधुनिक अध्यात्म-साहित्य, काव्य या आर्टमें कहीं भी एक परिपूर्ण सामंजस्यके साथ आत्माका सहज संपर्क नहीं स्थापित कर सका है। अतीन्द्रिय जगत्की ओर जरूरतसे ज्यादा खिंचाव होनेके कारण वहाँ इन्द्रिय-जगत्की ओर विशिष्ट प्रवृत्ति संभव नहीं हो सकी है।" एवमस्तु। अगर योरपके अध्यात्मवादकी सचमुच

यह दशा है—हमें ठीक पता नहीं,—तो कृपा करके इस अध्यात्मवादसे ब्रजके अध्यात्मवादकी—अगर नितान्त प्रयोजनीय ही समझते हों तो—तुलना न कीजिए। कहाँ रूखा अध्यात्मवाद और कहाँ यह प्रेम-प्लावित माधुर्य—

कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा।
कहँ स्यामल मृदु गात किसोरा।

मनमोहनके इस मिलन-विरहमें कहीं भी तुरीय-सत्ताकी ओर इशारा नहीं किया गया। इसीलिए इसका माधुर्य अनुपम है, अवर्णनीय है। इसमें ईश्वरकी धर-पकड़ अगर न भी की जाय तो कोई हानि नहीं। रसका परिपाक उसी मधुरताके साथ होगा—

"मनमोहन के बिछुरे सजनी, अजहूँ तो नहीं दिन द्वै गये हैं।
सखि वे, तुम वे, हम वे ही रहीं, पै कछू के कछू मन ह्वै गये हैं।"

—पद्माकर

अगर ब्रजका कवि इसी भावको बार-बार दुहराता हुआ जीवन काट दे और मनमोहनके केवल इसी अंशका पर्याप्त और यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर ले, तो वह अपनी साधनाको सफल समझ लेगा। यह क्या साधारण बात है! सब है, मगर कुछ खो-सा गया है—'पर्युत्सुकी भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः।' यह ठीक है कि इसका दायरा सकीर्ण है पर क्या हुआ इससे? वह विराट्की उपलब्धिके लिए तो मर नहीं रहा है, उसकी साधना तो सरस उपलब्धिकी है! वह उसे मिल गया। उसका मधुर, उसका मोहन मिल गया, तदनन्तर जाय भाड़में। इसकी उसे बिल्कुल परवा नहीं।

ब्रजभाषाके कवियोंका ईश्वर मधुर और सुन्दर तो है ही, लौकिक विधि-निषेधके परे भी है। वह विधिका विधाता है, पर है घरेलू मित्र।

श्रीकृष्णके इन दोनो रूपोका सामजस्य ही ब्रज भाषा काव्यकी विशेषता है, वही 'माडर्न-माइड'से अगम्य भी है। विधिके विधाता मानवकी लीला ब्रज भाषाका कवि सहज ही कह जायगा और अगर आपने कृष्णके इस सामजस्यको नहीं समझा है, तो घृणा तक करने लगेंगे। आप चकितकी भाँति ताकते रहेंगे, और युगल-मूर्तिकी पद-धूलिका मतवाला भिखारी सूरदास गा उठेगा—

> ऐसे जनि बोलहु नँदलाला।
> छाँडि देहु अँचरा मेरो नीकैं जानत और-सी बाला।
> बारबार मैं तुमहिं कहति हौं परिहौ बहुरि जजाला।
> जोवन रूप देखि ललचाने अबहीं ते ये ख्याला।
> तरुनाई तन आवन दीजै कत जिय होत बिहाला।
> सूर स्याम उर तें कर टारहु टूटै मोतिन माला।

क्या कहते हैं आप ? "सूरदासके समान भक्तके हृदयमें ऐसी गदगी और विलासिता कहाँसे आ गई ?" आनन्दकन्द श्रीकृष्ण और श्रीपति राधा-रानीके रहस्यमय केलिसे। भक्तकी उस साधनाको ससारमें लोग जब तक नहीं समझेंगे, तब तक इस तरहके प्रश्न करेंगे। समझ लेने पर स्वय अपने आपसे ही पूछेंगे—कैसी गदगी ? कैसी विलासिता ?

भगवान् बुद्धदेवने पूछने पर एक बार बताया था कि तथागतका धर्म उनकी मृत्युके हजार वर्ष बाद तक रहेगा, इसके बाद विकृत हो जायगा। हुआ भी ऐसा ही। वह युग ही ऐसा था जो अविचलित चित्तसे एक साधनाको अनायास ही वर्षों तक वहन कर सकता था। पर बीसवीं शताब्दीके बुद्ध महात्मा गाँधीसे पूछिए कि आपका धर्म कितने दिनों तक रह सकेगा ? विश्वासके साथ वे सौ वर्ष भी नहीं कह सकेंगे। स्वामी दयानन्दको मरे सौ वर्ष भी नहीं हुए कि उनके महान् आदर्श-पर स्थापित विधवाश्रम क्यासे क्या हो गये ! यही है हमारा नैतिक-

समुत्थानका युग ! और बीसवीं शताब्दीकी इसी प्रबुद्ध नीतिमत्ताका मुकुट पहन कर हम घृणा-भरी आँखोंसे ग्रीक कलाकारोंको डाँट देते हैं—"बर्बर ग्रीक ! अपने उपास्योंकी यह नग्न प्रतिमा ! देवी देवताओंका यह जघन्य अकन !!" इजिप्शियनोंकी चित्रकला देख कर गरज उठते हैं—'असभ्य इजिप्त ! राज हर्म्यमें नग्न परिचारिकाएँ, और उनका चित्रण !!" फारसके कविपर आँखें तरेर कर कहते हैं—"विलासपकमें निमज्जित कवि, और सुराही तेरी आराध्य देवी है !" संस्कृतके कवियों-पर बरस पड़ते हैं—"देव-वाणीके पवित्र मन्दिरको अश्लील पकसे पकिल करनेवाले कवि, यही तेरी कला है ! धिक् !!" ब्रजभाषाके कवियोंपर टूट पड़ते हैं—"भ्रष्टाचारके प्रसारक कवि, अपने उपास्य देवके नामपर तूने यह गदगी फैला रखी है ! धिक्कार है !" और फिर अपनी प्रबुद्ध नैतिकताकी मशाल लेकर आगे बढ़ जाते हैं, मानों अतीत और भविष्यके निविड़ अन्धकारको दूर करनेके सिवा इस युगके जीवनका और कोई लक्ष्य ही नहीं है।

यह बात विज्ञ-मडलीको बतानेकी जरूरत नहीं कि श्रद्धा और प्रेम निकृष्टसे निकृष्ट आचरणमें उत्कर्ष दिखा देता है। अश्रद्धा और घृणासे उत्तमसे उत्तम वस्तुएँ घृणित हो जाती हैं। सभी धर्मोंमें आप कुछ न कुछ ऐसी बातें देखेंगे जिन्हें देखकर आपको आश्चर्य होगा कि धर्मके नामपर यह क्या अनर्थ है ? पर उस धर्मके अनुयायीकी सश्रद्ध दृष्टिसे उसी बातको देखिए। आप जान सकेंगे कि यह अनर्थ नहीं है। ब्रजभाषा-कवियोंके कृष्ण भी ऐसे ही हैं। आप जिसे गन्दगी कहकर घृणासे आँख फेर लेते हैं, उसीमें वह युग-प्रेमका स्रोत बहता देखता है और सिर आँखों चढा लेता है। राधा और मोहनके नेहमें भी सन्देह ? ब्रजका कवि आपकी इस बातको समझ ही नहीं सकेगा। वह चकितकी भाँति पूछेगा—युगल मूर्तिका नेह भी किसीको अच्छा नहीं लगता !

आप अगर कहें 'हाँ' तो वह विस्मित हो जायगा। कह उठेगा—धूल डाल दो उसकी आँखमें, जो इसमें कलुष-प्रवृत्ति देखता है। एक मुट्ठी नहीं, हजार मुट्ठी—दस हजार मुट्ठी!

"राधा मोहनलाल कौ, जिन्हें न भावत नेह।
परियौ मुठी हजार दस, तिनकी आँखिन खेह।"—मतिराम

क्या कहेंगे आप इस ईश्वरको? इस भावनाको? इस विश्वासको? पागलपन? छीछालेदर? ना, कृपा करके यह न कहिए। उस रहस्यमय ईश्वरको समझनेकी कोशिश कीजिए। कविकी आँखोंसे ही एक बार उसके मदनमोहनको देखिए। उस 'आँखिनमें राखिबे जोग'को मम-व्यथित (Sympathy)के साथ देखिए। देखिएगा, वासुदेव और आभीरोंके बाल-देवताके इस संयुक्त संस्करणके चारों ओर ठोस प्रेमकी कितनी जमावट आ जमी है। अति प्राकृतका रूप कितना प्राकृत हो गया है। देखिएगा, 'राधारानी'के विशुद्ध काल्पनिक रूपके चारों ओर कितना सरस प्रेम, सहज सौन्दर्य घनीभूत हो उठा है, शून्यको जकड़कर किस मधुर स्नेहका स्तूप तैयार हो गया है। गोपियोंको देखिएगा—प्रेमकी असंख्य प्रतिमाओंके रूपमें।

यह ईश्वर उस कविका सखा है। अपनी विरह-वेदनाको उसके चरणोंमें समर्पित करके वह धन्य हो जाता है, अपनी पुलक-व्यथाको उसे भेंटकर वह कृतार्थ हो जाता है। वह गाय होकर भी रह सकेगा, यदि उस 'साँवरे मीत'का दर्शन हो सके, वह पक्षी बनना भी अच्छा समझेगा, यदि प्रियका केलि-कदंब उसका बसेरा हो सके, वह पत्थर भी बन सकेगा, यदि उस लीला-मयकी उँगलियोंका स्पर्श कर सके! क्या कहेंगे आप इस तन्मयताको? बाल-गोपालकी कारी कमरिया-पर वह 'तिहूँ पुर को राज' वार सकता है, नंदकी गायोंकी चरवाही

करनेका अवसर मिल जाय तो आठों सिद्धि और नवोंनिधिको वह अनायास ही ठुकरा सकता है, कोटि-कोटि कलधौतके धाम वह उन करीलके कुञ्जोंपर न्यौछावर कर सकता है। यह है उसकी गहन साधना! पर यही स्वर्ग और अपवर्गको ठुकरा देनेवाला कवि आपको आश्चर्यमें डाल कर गा उठता है—

" रोकत हौ बन में ' रसखानि ' चलावत हाथ घने दुख पैहौ।
जै हैं जो भूषन काहु तिया क तो मोल छला क लला न बिकैहौ।

*   *   *

हाँसी में हार हरौ ' रसखानि ' सु जो कहुँ नैंकु तगा टुटि जैहै।
एक ही मोती क मोल लला, सिगरे ब्रज हाटक-हाट बिकैहै।'

यही है ब्रज-कविकी मधुर और विषम साधना। आप कहेंगे इस साधनामें अश्लीलता है। जरूर है। लोक-धर्म बन जानेपर कौन-सी ऐसी साधना है, जिसमें कलुषवृत्त पुरुष न आ घुसे हों ? परन्तु सारी ब्रजभाषाकी कवितामें आप मुश्किलसे ऐसी एक आध अश्लील कविता पायेंगे जिसमें युगल-मूर्तिकी मर्यादाके प्रति श्रद्धाका भाव न हो। कवि सब कह जायगा, मगर एक मर्यादाके प्रति श्रद्धा रख कर। यह क्या मामूली साधना है! प्रेमके उच्चतम स्तरसे लेकर निम्नतर स्तर तक मर्यादाके प्रति एकनिष्ठा, सो भी कितने दिनों तक ? सौ-पचास वर्ष नहीं। कमसे कम एक सहस्राब्दी तक!

संसारका यह एक विचित्र रहस्य है कि प्रेमकी आँखोंसे देखनेसे जो बात जितनी ही आकर्षक होती है, घृणाकी नजरोंसे देखने पर वह उतनी ही गर्हित। प्राय देखा गया है कि धार्मिक आक्षेप करनेवाले उन्हीं बातोंमें अधिक दोष देखते हैं, जिनसे उस धर्मके अनुयायी अधिक प्रेम करते हैं। ईसाके मेष-पाल रूपमें करुणाका जो स्रोत फूट पड़ा है,

ईसाई धर्मके आलोचकोंको उसीमें भेडिया-धसान दिखाई देता है। बुद्ध देवने ससारकी क्षण भगुरतापर वडा जोर दिया था। सहस्र सहस्र बौद्ध भिक्षु ससारकी इस क्षणिकताको शाश्वतके रूपमें परिणत करनेके लिए गृह त्यागी हो गये, पर बौद्ध दर्शनके विरोधियोंने इसपर महज पिल पड़नेकी कृपा ही नहीं की, इसके अतिरिक्त उनकी रायमें बौद्ध धर्मका और कोई अस्तित्व ही नहीं रह गया। विरोधी दर्शनोंमें बौद्ध-क्षणिक वादीके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। हिन्दुओंने मूर्ति-पूजाके प्रति अपनी इतनी प्रगाढ श्रद्धा व्यक्त की थी कि धन-रत्न सर्वस्व उसपर चढा दिया था। आक्रमणकारी मुसल्मानोंको यही बात सबसे अधिक खटकी। आज अगर कोई हिन्दू धर्मका उपहास करना चाहे तो उसे इन कवियोंकी कृतियोंमें काफी मसाला मिलेगा। उपाय क्या है!

आजसे कमसे कम ढाई हजार वर्ष पहले देव देव वासुदेवका आविर्भाव हुआ था। तबसे अब तक ससारके विविध उत्थान-पतनोंके बीचसे गुजरते हुए श्रीकृष्णने नाना भावोंसे विचित्र आकार ग्रहण किया है। ज्ञानकी सर्वोत्तम प्रतिभा गीताका प्रवचन कराके उन्हें जहाँ विशुद्ध ज्ञानके सिंहासनपर बैठाया गया है, वहीं गोपियोंके प्रेमकी आश्रय भूमि बना कर उन्हें प्रेम-राज्यका सर्वस्व स्वीकार कर लिया गया है। बुद्धि और भाव—intellect और Emotion—के अवतार, ढाई हजार वर्षकी विपुल साधनाके साध्यको अगर लोग उपहासकी फूँकसे उड़ा देना चाहते हैं तो उचित तो नहीं कर रहे हैं, और चाहे जो करते हों। इस ढाई हजार वर्ष तककी एकात निष्ठाको छीछालेदर कहते हैं ' किमाश्चर्यमत परम्।

आज हम कवितामें विशुद्ध प्रकृतिप्रेमी हो गये हैं और धर्ममें विशुद्ध ईश्वर-प्रेमी! यह प्रेम हम प्रेमके लिए नहीं कर रहे हैं, नैतिकताके लिए कर रहे हैं। शीलर (Schiller) कहते हैं—This

kind of pleasure at the sight of ... is not an aesthetic pleasure but a moral one ... is arrived at by means of an idea Whence comes this different sense? How is it that we who in every thing related to nature are inferiors to the ancients, should pay such homage to her, should cling so heartily to her and be able to embrace the inanimate world with such warmth of feeling? It is not our greater conformity to nature but on the contrary, the opposition to her which is inherent in our conditions and customs that impels us to find some satisfaction in the physical world (प्रकृतिमें इस श्रेणीका आनन्द हम सौन्दर्य-बोधकी ओरसे नहीं पाते, पाते हैं, नैतिकताकी ओरसे। क्योंकि यह एक विशेष धारणासे प्राप्त हुआ है। किस प्रकार प्राचीन लोगोंकी और हमारी धारणाओंमें अन्तर आ उपस्थित हुआ? जहाँ तक प्रकृतिसे सबध है, हम उनसे निम्नतर ही हैं। फिर भी हम प्रकृतिको अपना अर्घ्य चढा रहे हैं, अनुभूतिकी ओरसे जड़ जगत्को आलिंगन करने जा रहे हैं। इसका मतलब क्या है? यह प्रकृतिके साथ हमारे बृहत्तर योगसे नहीं हुआ है, बल्कि उलटे, इसलिए हो सका है कि आचार-व्यवहारमें हम प्रकृतिके विरोधी हो गये हैं और आज उसी भौतिक जगत्के भीतर कुछ सन्तुष्टि खोजनेकी चेष्टा हो रही है।)

शीलरके इस कथनमें प्रकृतिके साथ ईश्वरको भी जोड़ देनेकी जरूरत जान पड़ती है। ब्रज भाषा-कवितापर विचार करते समय हमें ईश्वर-प्रेमके इस आधुनिक दृष्टि-कोणका सहारा नहीं लेना चाहिए।

◎ समाप्त ◎